और

विज्ञान
तकनीकी
और
पर्यावरण 2001

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
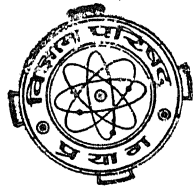
विज्ञान परिषद्, प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशक
डॉ० पूर्णचन्द्र गुप्त
प्रधान मन्त्री
विज्ञान परिषद्, प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद—211002

14 दिसम्बर 1987 को विज्ञान परिषद्, प्रयाग
द्वारा आयोजित संगोष्ठी के लिए
प्रस्तुत आलेख

(विज्ञान एवं तकनीकी परिषद् (C.S.T.),
उत्तर प्रदेश सरकार के आर्थिक सहयोग
द्वारा प्रकाशित)

मुद्रक
नागरी प्रेस
186, अलोपीबाग
इलाहाबाद

विषय-सूची

अपनी बात

मानवजाति सदैव से बेहतर भविष्य का सपना देखती आई है। आज जब तृतीय सहस्राब्दी में प्रवेश में मात्र डेढ़ दशक से भी कम समय रह गया है, तो यह प्रश्न सभी के मन में उठ रहा है कि सन् 2001 में विज्ञान, तकनीकी और पर्यावरण का स्वरूप क्या होगा ? हम चाहे भारतीय हों या रूसी, पाकिस्तानी हों या अमेरिकी, चीनी हों या जापानी, जर्मन हों या फ्रांसीसी, सभी, भूमंडलीय समस्याओं को लेकर चिंतित हैं।

विश्वव्यापी तापनाभिकीय युद्ध न होने देना, प्राकृतिक संपदाओं का विवेकपूर्ण उपयोग, बढ़ती जनसंख्या पर नियन्त्रण, निरंतर प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा, विज्ञान और तकनीकी की उपलब्धियों को सही दिशा प्रदान करना, गरीबी का उन्मूलन तथा शिक्षा और स्वास्थ्य की समस्याओं का निदान, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास को बढ़ावा देने जैसी अनेक भूमण्डलीय समस्याएँ, जिनका हम अभी तक समाधान नहीं ढूंढ़ सके हैं, तीसरी सहस्राब्दी की ओर आशापूर्ण निगाहों से देख रही हैं।

आज की इन समस्याओं को एक साथ देखने से ऐसा लगता है कि धरती नामक इस छोटे से ग्रह पर पारिस्थितिकीय संकट के काले बादल मँडरा रहे हैं। यह ख़तरे का संकेत हमें अपने भविष्य के विषय में सोचने को विवश कर रहा है। इस पारिस्थितिकीय संकट का समाधान कहाँ है ? कुछ दार्शनिक, पारिस्थितिकीविज्ञानी, भविष्यवेत्ता बार-बार चेतावनी देते हैं कि इसका कोई समाधान नहीं है। कुछ अन्य लोग आंशिक समाधान ही प्रस्तुत कर पाते हैं। वे हवा और पानी के प्रदूषण के मानक स्थापित करने की बात करते हैं और प्रदूषण फैलाने वाले कल-कारखानों पर भारी कर अथवा दण्ड की व्यवस्था का सुझाव देते हैं। और तीसरे प्रकार के लोग ऐशो आराम की चीज़ों को छोड़कर प्रकृति की ओर वापस जाने ('रिटर्न टु नेचर') की बात करते हैं।

किन्तु यदि हम वर्तमान पारिस्थितिकीय संकट को दार्शनिक दृष्टि से देखें, तो एक बात जो स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है वह यह है कि हमें, इस धरती पर रहने वालों को, अपने रहन-सहन के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा, पुनर्निर्माण करना होगा। **हमें ऐसे सामूहिक और सुनियोजित विकास पर बल देना होगा जहाँ समाज के एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा शोषण नहीं होगा और इस प्रकार के समाज का निर्माण करना होगा जो प्रकृति को विकृत करते हुए नहीं वरन् उसके साथ तालमेल बिठाकर चल सके।**

आज की पारिस्थितिकीय समस्याओं में औद्योगीकरण और शहरीकरण के द्वारा मनुष्य के नैसर्गिक पर्यावरण का ह्रास, पारम्परिक ऊर्जा-स्रोतों का चुकना, छीजती प्राकृतिक सम्पदा, बढ़ती जनसंख्या का दबाव, प्राकृतिक संतुलन का विच्छिन्न होना, प्राणियों

और वनस्पतियों का विलुप्तीकरण, अपशिष्टों के कारण प्रदूषण का बढ़ना आदि शामिल हैं। इन सबके केन्द्र में चूंकि मनुष्य स्वयं है इसलिए मनुष्य के अस्तित्व को भी ख़तरा उत्पन्न हो गया है।

वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति ने मनुष्य को प्रकृति पर विजय पाने के लिए अतुलनीय शक्ति दी है। हमारी गतिविधियां धरती से ऊपर, बहुत ऊपर अंतरिक्ष में पहुँच गई हैं। वास्तविकता तो यह है कि आज हमारे पास जो ताकत है उससे हम पहाड़ों को खिसका सकते हैं, नदियों की धारा मोड़ सकते हैं, नये सागरों का निर्माण कर सकते हैं और निर्जीव मरुस्थलों को हरे-भरे नखलिस्तानों में बदल सकते हैं। संक्षेप में हमारे पास प्रकृति के साथ अतिचार की असीम शक्ति है।

किन्तु हम न तो ऐसा कर ही सकते हैं और न ही हमें अपनी शक्ति का प्रयोग प्रकृति पर अनियन्त्रित रूप से करना ही चाहिए। क्योंकि प्रकृति के साथ हमारी छेड़छाड़ के ऋणात्मक पहलू भी हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि प्रकृति में ऊर्जा और कच्चे माल के स्रोत सीमित हैं। और हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि प्रकृति को क्षति पहुँचाकर हम अपने अस्तित्व के लिए ही ख़तरा मोल ले बैठेंगे। हम जिस डाल पर बैठे हैं, यदि उसी को काट डालेंगे तो हमारा क्या होगा ???

आज हम अपनी वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक सभ्यता के माध्यम से यदि रेगिस्तान के एक टुकड़े को नखलिस्तान में बदल रहे हैं तो कहीं विशाल हरी-भरी पहाड़ी या जीव-जन्तुओं और जड़ी-बूटियों से समृद्ध वनों को मरुभूमि में बदल रहे हैं। पिछली शताब्दी और इस शती में जो भी वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान हमने अर्जित किया है, उसके उपयोग से जहाँ कुछ लोगों के लिए सुख-सुविधा के साधन बढ़ाये जा रहे हैं, वहीं धरती के जीवन के समाप्त होने की सम्भावना भी बढ़ती जा रही है।

सभी जानते हैं कि प्रकृति प्रायः भूकम्प, चक्रवात, आँधी, तूफ़ान, बाढ़, सूखा और हिम-वर्षा के रूप में मानवता पर घातक प्रहार करती रहती है। आज न केवल प्रकृति की इन विनाशकारी शक्तियों को नियंत्रित करना संभव है, वरन् अत्यावश्यक भी है। समय आ गया है जब हमें एक-एक करके इन विपदाओं से नहीं निपटना होगा, बल्कि अपनी उन तमाम ऐसी गतिविधियों पर नियन्त्रण पाना होगा, जिनसे जलवायु में परिवर्त्तन और परिणामस्वरूप इन प्राकृतिक आपदाओं का जन्म होता है। याद रहे यदि हम प्रकृति का शोषण करते रहे तो प्रकृति भी इन आपदाओं के रूप में क्रूर प्रहार करती रहेगी। **यह समय की पुकार है कि विकासशील देश विकास के नाम पर समुन्नत देशों को अपनी प्राकृतिक संपदा और कच्चे माल का दोहन न करने दें।** आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे समस्त वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान का 'पारिस्थितिकरण' ('ecologisation') कर दिया जाय। हम जो भी तकनीकी विकसित करें उसमें इस बात का ध्यान रखा जाय कि उससे पर्यावरण को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचे।

आज मनुष्य सभ्यता के जिस शिखर पर पहुँचा है, अपनी सुरक्षा के उसने जितने भी उपाय ढूँढ़ लिए हैं, उनके साथ ही उसके लिए ख़तरे भी बढ़े हैं। जो सबसे भयानक ख़तरा आज उसके सिर पर मँडरा रहा है, वह है विकिरण का विनाशकारी प्रभाव।

पर्यावरण में बढ़ते हुए आयनीकृत विकिरण (आयोनाइज़िंग रेडियेशन्स) से इस बात की आशंका बढ़ती जा रही है कि हमारे आनुवंशिक गुण गंभीर रूप से प्रभावित हो सकते हैं। यह आयनीकृत विकिरण उत्परिवर्तन की प्राकृतिक गति को बढ़ा देते हैं और ऐसे उत्परिवर्तन पूर्णतः निरुद्देश्य और बेतरतीब होते हैं। इस दृष्टि से एक अल्पकालिक आणविक युद्ध भी केवल तत्कालीन नरसंहार के अतिरिक्त कुछ विनाशकारी दूरगामी प्रभाव छोड़ने वाला होगा। मानव के जननिक (जर्मिनल) ऊतकों के प्रभावित होने से यह दोष अनेक पीढ़ियों तक सामने आते रहेंगे। मानव का एक्स-किरणों तथा रेडियोसक्रिय दुष्प्रभावों से अनावश्यक सम्पर्क रोकने के लिए कड़े कदम उठाये जाने चाहिए तथा मनुष्य की आनुवंशिकता को ख़तरों से बचाने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। आज हमारे पास ऐसी तकनीकें हैं जिनसे कारखानों से निकलने वाली जहरीली गैसों और दूषित जल को हवा और पानी में मिलने से रोका जा सकता है, कृषिप्रदूषण को कम किया जा सकता है, अपशिष्ट पदार्थों से ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है, गंदे नालों और नदियों के जल को शुद्ध किया जा सकता है, नदियों के तल को और गहरा करके बाढ़ के प्रकोप से बचा जा सकता है। अनेक देशों में विज्ञान और अभियांत्रिकी का 'पारिस्थितिकरण' प्रारम्भ भी हो चुका है। विश्व के अनेक पर्यावरणविदों और चिंतकों का यह मत है कि सभी शिक्षण संस्थाओं में पारिस्थितिक-शिक्षा आवश्यक कर दी जानी चाहिए। इससे निश्चय ही जनमानस में एक सही और नयी पर्यावरण-सोच का उदय होगा।

प्रसन्नता की बात है कि अर्थशास्त्रियों ने पर्यावरण की समस्याओं को अपने अध्ययन में शामिल कर लिया है और इस दिशा में अपना महत्वपूर्ण योगदान भी कर रहे हैं। उन्होंने आर्थिक नीतियों में प्रकृति की सुरक्षा के लिए यथेष्ट धन का प्रावधान किया है। ऐसा अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर किया है। क्योंकि आज पर्यावरण की समस्या किसी एक देश की न होकर विश्वव्यापी हो चुकी है। 'चेरनोबिल दुर्घटना' से रूस के साथ अन्य पड़ोसी देश भी प्रभावित हुये। माथाबंगा और चुरनी नदियों के प्रदूषण से भारत और बंगलादेश दोनों ही प्रभावित हैं। अतएव विश्वव्यापी समस्या का निदान भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ही हो सकता है।

साधारणतया जिस ओर हमारा ध्यान सहज रूप से नहीं जाता है, वह है सागर प्रदूषण। कुछ देश जिस कूड़े-कचरे का निपटान करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं, उसे सागरों के गर्भ में ढकेल देते हैं। तेलवाहक जलयानों से भी रिसा हुआ तेल सागर के जीवन, विशेष रूप से पादपप्लवक (फाइटोप्लैंकटॉन) के लिए घातक है। यह सर्वविदित तथ्य है कि पादपप्लवक मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इसलिए सागरों में शैवालों (एल्गी) को सुरक्षित रखने का प्रश्न मानव के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न है क्योंकि प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया के द्वारा शैवाल जो प्राणवायु (ऑक्सीजन) निकालते हैं उसके अभाव में जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार की चेतावनी एक दशक पूर्व 1977 में **थोर हेयरडाहल** अपनी पुस्तक 'सागर की मृत्यु' ('डेथ ऑव द ओशंस') में दे चुके हैं।

19 अक्टूबर (1987) को यूनाइटेड नेशंस की जनरल एसेम्बली को संबोधन के लिए हमारे प्रधान मंत्री **राजीव गांधी** ने 'पर्यावरण और विकास' ('इनवायरनमेन्ट एण्ड डेवेलपमेन्ट') विषय चुना। इससे इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि न केवल वैज्ञानिक और पर्यावरणविद् वरन् राजनेता भी इस विषय को लेकर चिंतित हैं। इस विशिष्ट सभा में बोलते हुए श्री गाँधी ने बताया कि आज विकासशील देशों के नागरिकों की अपेक्षा औद्योगिक रूप से समुन्नत देश ऊर्जा और खनिज सम्पदाओं का दस गुना अधिक उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार के उपयोग से स्रोत शीघ्र ही चुक जायेंगे। उन्होंने 'नाभिकीय युद्ध' की विभीषिका के प्रति भी चेतावनी दी। किन्तु हमारी 'कथनी और करनी' में भेद नहीं होना चाहिए। यहाँ मैं एक बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। नयी दिल्ली में रामलीला मैदान में **रावण** के जलाये जाने के समय और बड़े-बड़े सम्मानित विदेशी अतिथियों के स्वागत के अवसर पर 'आतिशबाजी' के जिस प्रकार के प्रदर्शन किए जाते हैं, उनसे वायु-प्रदूषण को किस प्रकार गति मिल रही है, यह चिंता का विषय है। इसमें देश के शीर्षस्थ नेता, वैज्ञानिक और पर्यावरणविद् भी उपस्थित होकर आतिशबाजी के खेल का आनन्द लेते हैं। यह विचित्र बात है कि धार्मिक आयोजनों और शादी-ब्याह के अवसरों पर किस प्रकार ध्वनि-प्रदूषण बढ़ाकर लोग आनन्दित होते हैं, नदियों में विशेष अवसरों पर हज़ारों-लाखों की संख्या में किस प्रकार स्नानार्थी जल को गंदा करके अपना 'परलोक' बनाते हैं, पर कितनों का 'इहलोक' बिगाड़ देते हैं। 'चेन-स्मोकर' पर्यावरण की गोष्ठियों में वायु-प्रदूषण पर चिंता व्यक्त करते हैं। देखने अथवा कहने-सुनने में ऐसी बातें छोटी लगती हैं, किन्तु पर्यावरण-सुरक्षा के हमारे प्रयासों को पीछे ढकेलती हैं।

अतएव आज आवश्यकता है प्रकृति के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की। एक ऐसे नये सोच की, ऐसे नये दर्शन की, जिसमें प्रकृति पर विजय नहीं, वरन् मैत्रीपूर्ण व्यवहार की भावना हो।

अपनी बात समाप्त करने के पूर्व मैं इस संगोष्ठी के आयोजकों और लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिसके बिना मेरी बात अधूरी रह जायेगी। सबसे पहले मैं विज्ञान एवं तकनीकी परिषद्, उत्तर प्रदेश सरकार के प्रति अपनी ओर से और विज्ञान परिषद् परिवार की ओर से आभार प्रकट करता हूँ, जिसके आर्थिक सहयोग के बिना इस गोष्ठी का आयोजन और गोष्ठी के लिए आमंत्रित लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित कर पाना सम्भव नहीं होता।

मैं उन सभी लेखकों का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने आलेख भेजकर इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव बनाया। परिषद् के सभापति प्रो० यशपाल, प्रधान मंत्री डॉ० पूर्णचन्द्र गुप्त, भूतपूर्व प्रधान मंत्री प्रो० शिवगोपाल मिश्र, भूतपूर्व सम्पादक डॉ० जगदीश सिंह चौहान, संयुक्त मंत्री, डॉ० अशोक कुमार गुप्त और श्री अनिल कुमार शुक्ल तथा भवन मंत्री डॉ० रामसुरंजन धर दुबे तथा पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० अशोक महान साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने मुझे हर प्रकार का दिशा-निर्देश, प्रोत्साहन और सहयोग दिया है। □□

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

पर्यावरणप्रदूषण-निवारण की दिशा में एक प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण

स्वामी आत्मानन्द परमहंस

आजकल पर्यावरणप्रदूषण मानव समाज के समक्ष एक बहुत बड़ी समस्या है। वैसे तो यह समस्या बहुत नवीन नहीं है। पर्यावरण को कुछ न कुछ सीमा तक तो मानव स्वयं अतीत काल से प्रदूषित करता आया है तथा प्राचीन भारतीय मनीषी इस प्रदूषण से बचाव की दिशा में सावधान भी रहे हैं। उन्होंने समय-समय पर वायुशोधन एवं जलशोधनादि कुछ क्रियाकलाप समाज के लिए अनिवार्य कर दिये थे। इन क्रियाकलापों में 'यज्ञ' ही प्रधानतम था। उसी की दैनिक इकाई को 'अग्निहोत्र' कहा जाता था जिसको दैनिक ही नहीं बल्कि सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों समयों में करने की प्रत्येक गृह में अनिवार्यता थी। कहीं-कहीं तो प्रत्येक व्यक्ति इस क्रिया को सम्पन्न करता था। विदेशी आक्रमणों तथा अन्य सामाजिक झंझावातों के कारण नित्यविधि के रूप में इसकी प्रतिष्ठा नहीं रह सकी तथा यह लुप्तप्राय हो गया। कहीं रहा भी तो कर्मकाण्ड का रूढ़ि-रूप में अंग बन कर न कि नित्य वैज्ञानिक क्रिया के रूप में।

यह ज्ञातव्य है कि भारत में गणित की प्रमुख शाखाओं का जन्म और विकास यज्ञ के ही सन्दर्भ में हुआ था।

यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान मानव समाज के लिए विज्ञान तथा तकनीकी ने दो-तीन शताब्दियों में बड़ी सुख-सुविधायें प्रदान कीं। जीवन को बड़ा सरल बनाया। पर कष्ट की बात यह है कि जब सुख-सुविधायें आयीं तो आपत्तियों का समूह भी पीछे नहीं रहा। मनुष्य का ही नहीं पेड़-पौधों तक का भी जीवन ख़तरे से खाली नहीं रहा। कल-कारखानों से निकली हुई गैसों ने वायु को तथा उनसे निकले हुए मलबे ने जल को भीषण रूप से प्रदूषित किया। वायु-प्रदूषण तो क्षेत्र विशेष में ही परिसीमित नहीं रहता। फलतः नये-नये रोग उत्पन्न हो रहे हैं जिनके निदान का ही पता चिकित्सकों को नहीं लग पाता। न्यूक्लीयप्रणालियों के रेडियोऐक्टिव अवशेषों ने तो और नई विभीषिका उत्पन्न कर दी है। वर्तमान कीटनाशकों का मानव जीवन पर अप्रत्यक्ष रूप से बुरा प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के तौर पर डी० डी० टी० को ही देखें। इस मानवनिर्मित कार्बनिक रसायन का एक लाख टन प्रतिवर्ष विश्व में कीटनाशक के रूप में छिड़का जाता है। इसका कुछ भाग वाष्पीकृत होकर आंशिक रूप में वायु में मिल जाता है तथा पुनः वर्षा द्वारा भूमि अथवा समुद्र में आ मिलता है। परम्परया किसी प्रकार मछलियों का ग्रास बनता है तथा इस प्रकार मत्स्याहारी मानवों के उदर तक उसकी पहुँच हो जाती है। आँकड़ों के अनुसार

अमेरिका में तथा दिल्ली में भी यह मानव शरीर में पाया गया है। यह एक छोटा-सा उदाहरण है। आधुनिक समय में तकनीकी के कारण कितना पर्यावरण प्रदूषण हुआ है— इस पर विचार करें तो स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन जायेगा।

अब हमें देखना है कि पूर्वोक्त अतिसाधारण-सी क्रिया अग्निहोत्र किस प्रकार इस प्रदूषण को रोकने में सक्षम है। उसकी विधि की भी आनुषंगिकतया चर्चा आवश्यक है। उलट कर रखे हुए पिरामिड के आकार का एक ताम्रपात्र होता है, जिसकी ऊपरी माप 14.5 × 14.5 सेण्टीमीटर, आधार की माप 5.25 × 5.25 से० मी० तथा ऊँचाई 6.5 से० मी० होती है। ठीक सूर्योदय तथा सूर्यास्त के कुछ ही मिनट पहले इसी पात्र में गाय के कण्डे की आग बनाते हैं। आग बनाने में कर्पूर या गुग्गुल की सहायता लेते हैं। स्वच्छ किया हुआ चावल (जिसमें कंकड़-पत्थर न हो) एक पात्र में रखे रहते हैं। आग प्रज्ज्वलित हो जाने पर पाँचों उँगलियों के कोनों में जितने चावल आ सकें (लगभग 25-30 दाने आते हैं) उतने हाथ की हथेली या किसी तश्तरी में रखकर 1-2 बूँद शुद्ध गोघृत उस पर डालकर सभी चावलों में मिला दिया जाता है। ठीक सूर्योदय और सूर्यास्त के समय उसी चावल की दो-दो आहुतियाँ दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए आग में डाल दी जाती हैं। मन्त्र हैं—

सूर्योदयकालीन—

सूर्याय स्वाहा। सूर्याय इदं नमम् (प्रथम आहुति)
प्रजापतये स्वाहा। प्रजापतये इदं नमम् (द्वितीय आहुति)

सूर्यास्तकालीन—

अग्नये स्वाहा। अग्नये इदं नमम् (प्रथम आहुति)
प्रजापतये स्वाहा। प्रजापतये इदं नमम् (द्वितीय आहुति)

अग्निहोत्र के पश्चात् आग को बुझाया नहीं जाता बल्कि अपने आप बुझने दिया जाता है। मौन होकर उसी के पास कुछ समय तक बैठे रहते हैं। आहुति डालने वाला तो एक ही व्यक्ति होता है। अन्य पारिवारिक सदस्य केवल बैठे रहते हैं मौन होकर।

विशेष बल दो ही बातों पर दिया जाता है। पहली यह कि शुद्ध गोघृत के स्थान पर **अन्य कोई घृत प्रयोग नहीं किया जा सकता।** इसका उपाय यह है कि सामने निकलवा कर लाये हुए एक लीटर गोदुग्ध को जमाकर घर पर ही लगभग 40-50 ग्राम घृत प्राप्त करें जो कि एक महीने की आहुतियों के लिए पर्याप्त है। दूसरी बात है **सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय का ध्यान रखना। समय टाल कर 8 या 9 बजे अग्निहोत्र नहीं हो सकता।** इसका रहस्य वैज्ञानिक ही है। ठीक सूर्योदय के समय अनेक अग्नि, विद्युत् शक्तियाँ, ईथर तथा अन्य सूक्ष्म शक्तियाँ पृथ्वी की ओर प्रवाहित होती हैं। ठीक समय पर अग्निहोत्र करने से इन शक्तियों को अग्निहोत्र का पात्र आकर्षित करता रहता है और इसी कारण शक्तियों का स्वास्थ्यकारी प्रभाव स्वाभाविक रूप से मिलता है।

अब हम यह विचार करेंगे कि अग्निहोत्र किस प्रकार वातावरण को शुद्ध करता है तथा उसके और क्या-क्या प्रभाव हैं।

(1) **वातावरण शोधक प्रभाव**—गोघृत का पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण अभी नहीं हो पाया है पर वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इसमें ग्यारह अम्ल (एसिड), बारह धातुएँ, दो लेक्टोज़ तथा चार गैसें होती हैं। **जयन्त पोद्दार** (1982) के अनुसार आहुति के बाद पहचानी हुई गैसें हैं—(1) एथिलीन ऑक्साइड (C_2H_4O), (2) प्रापिलीन ऑक्साइड (C_3H_6O), (3) फॉर्मलडिहाइड (CH_2O) तथा (4) बीटा प्रापियो लेक्टोन ($C_3H_4O_2$)। आहुति देने के पश्चात् गोघृत से एसिटिलीन का निर्माण होता है जो कि प्रखर ऊष्णता के फलस्वरूप प्रखर ऊर्जा वाली है तथा दूषित वायु को अपनी ओर खींचकर उसे शुद्ध कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रदूषण के कारण वातावरण में समाये हुए सौम्यविषों का प्रभाव गोघृत को अग्नि में हवन करने से तत्काल नष्ट हो जाता है। इस पर पूना के फर्ग्युसन कॉलेज के जीवाणुशास्त्रियों ने प्रयोग किये थे (**जयन्त पोद्दार 1982**), जिनके आँकड़ों के अनुसार अग्निहोत्र की एक समय की आहुतियों से $36 \times 22 \times 10'$ के हाल की लगभग 8000 घन फिट वायु में कृत्रिम रूप से निर्मित वायु प्रदूषण 77·5 प्रतिशत समाप्त पाया गया। आँकड़ों के अनुसार यह भी ज्ञात हुआ कि एक समय के अग्निहोत्र से 96 प्रतिशत हानिकारक कीटाणु नष्ट होते हैं। यही नहीं, वातावरण पोषक गैसों से परिपूर्ण हो जाता है। इसीलिए तो **वेद** में भी कहा है—

आ वात वाहि भेषजम् वि वात वाहि यद्रपः त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥

(ऋग्वेद)

यहाँ पर श्री **के० के० शाह**, जो कि भारत सरकार में सूचना मन्त्री थे, का एक वक्तव्य जो कि 'द हिन्दू विश्व मंथली' के अक्तूबर 1968 अंक में प्रकाशित हुआ था, उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। वह निम्नलिखित है—

"According to the views expressed by the leader of the delegation of eminent scientists from Russia, cow's milk is highly potential as a protection against atomic radiation. If cow's ghee is offered as oblation to the fire to create smoke; i. e. if the 'Havan' ceremony is performed, it reduces the effect of radiation in the atmosphere to a very great extent. The leader of the delegation, a scientist, further gave me to understand that if houses are plastered with cowdung, it goes difficult for atomic radiation to penetrate them. Further research is also going on Pancagavya."

यह तो सर्वविदित है कि भारतवर्ष में प्राचीनकाल में (कुछ गाँवों में अभी भी) घरों की पुताई गोबर से की जाती थी। प्रसिद्ध पुस्तक 'टाओ ऑव फ़िज़िक्स' (Tao of Physics) के लेखक **फ्रिजोफ छापरा** (Fritjof Chapra) ने भी एक बार कहा था कि—

"आदर्श जीवन पूरब एवं पश्चिम के मेल में निहित है। औद्योगिक रूप से उन्नत देश जहाँ पूर्व के पारिस्थितिकीय रूप से सन्तुलित जीवन का अनुकरण कर सकते हैं, वहीं तीसरी दुनिया के देश पश्चिम के विज्ञान को अंगीकार कर सकते हैं।" ('टाइम्स ऑव इण्डिया', 13 फरवरी 1982)

(2) **अग्निहोत्र का कृषिपर प्रभाव**—अग्निहोत्र का कृषि पर प्रभाव वेद के मन्त्र 'कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' (यजुर्वेद) से मिलता है। यहाँ तक कि कृषि की आधारभूत जो वृष्टि है वह भी यज्ञ की अपेक्षा रखती है—

"वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्" (यजुर्वेद)

यज्ञ-कृषि की प्रणाली संक्षेप में इस प्रकार है—

(क) कृषिभूमि के बीचोबीच वर्ष भर अग्निहोत्र हो।

(ख) अग्निहोत्र की राख कम्पोस्ट में डाली जाय।

(ग) बड़े फार्म में केन्द्र के साथ-साथ चारों कोनों में भी अग्निहोत्र होना चाहिए। बहुत बड़े फार्म पर तो बीच के अन्य स्थलों पर भी होना चाहिए तथा राख को पूरे फार्म पर छींटना चाहिए।

बाल्टीमोर, मारीलैण्ड यू० एस० ए० के माइकेल बिलियन (Michael Billian) ने यज्ञीय कृषि का कुछ वर्षों तक प्रयोग किया था। वे इस विषय को लॉस एन्डीज, चिली (Los Andes, Chille) में पढ़ाते भी थे। उन्होंने 'सत्संग' नामक पत्रिका में, जो कि मैडिसन, वर्जिनिया से निकलती है, होमा थेरापी फार्मिंग विषय पर प्रकाश डाला है। उन्हीं के शब्दों में—

"Homa Therapy farming is a system of agriculture from the ancient Vedic Science of Bio-energy. Agnihotra is the basic Homa which creates a healing cycle in the garden or the farm or in the home......The aim of Homa Therapy farming is—

(a) To heal and improve the land that we cultivate rather than pollute and destroy it with chemical poisons and thoughtless farming practices.

(b) To grow superior crops without the use of chemical fertilisers, pestcides, herbicides and the like.

(c) To give back to the earth by improving and healing the soil, air and water resources (होमाफार्मिंग)

(3) **औषधीय प्रभाव**—अग्निहोत्र की राख से निर्मित औषधियों को पश्चिम जर्मनी के चिकित्सकों ने 'अद्भुत आयुध' ('Wonder weapon') तक कहा। डॉ० मोनिका येले का कहना है कि इससे फ्रॉन्टल सिनुसाइटिस (Frontal Sinusitis), त्वचा के न भरने वाले घावों (Skin-diseases Non-healing wounds) आदि विविध रोगों से शीघ्र छुटकारा मिलता है। उन्होंने इसको पाउडर केप्सूल, आइण्टमेण्ट, क्रीम, आई ड्रॉप, इन्हेलेशन आदि अनेक रूपों में प्रयोग किया है। अग्निहोत्र केन्द्र, शिवपुरी, अक्कलकोट, महाराष्ट्र में इन पंक्तियों के लेखक का जब डॉ० येले से साक्षात्कार हुआ तो उन्होंने एक

चमत्कार की चर्चा की जिस पर वैज्ञानिकों को विश्वास होना भी कठिन होगा। डॉ० येले के जर्मनी आवास के पड़ोस में एक महिला को हृदय का दौरा आया। उसका पति जब चिकित्सक को बुलाने गया उस बीच हालत अधिक बिगड़ती देखकर और अन्य कोई उपाय न पाकर अग्निहोत्र की राख को किसी सहायक ने हृदय के पास बाह्य शरीर पर लगा दिया। उससे दौरा शान्त हो गया। घर आने पर चिकित्सक यह घटना देखकर इतने विचार में पड़ गया कि उसे शिरोवेदना हो गयी। तब किसी निकटस्थ व्यक्ति ने चिकित्सक के सिर में राख मल दी और वह भी ठीक हो गया। अधिक जानकारी के लिए पाठकगण डॉ० येले से पत्र द्वारा निम्न पते पर सम्पर्क कर सकते हैं—

डॉ० मोनिका येले (Dr. Monika Jehle)
कोलिसट्रास (Kollinstrasse) 137760 राडोल्फजेल (Radolfzell)
पश्चिमी जर्मनी (West Germany)

अग्निहोत्र के विषय में विशेष जानकारी के लिए, तथा ताम्रपात्र के लिए अंतर्राष्ट्रीय होमा थेरापी अनुसंधान संस्थान, शिवपुरी (International Home Therapy Research Institute, Shivpuri), अक्कलकोट 413226 (Akkalkot 413 226) महाराष्ट्र (*Maharashtra*) को लिखना चाहिए।

'वाल्मीकि रामायण' के 'नानाहिताग्निर्नायज्वा' के अनुसार अयोध्या में अग्निहोत्र न करनेवाला उस समय कोई व्यक्ति नहीं था। विक्रमादित्य के राज्य में भी यही बात थी—

न मे स्तेनोजनपदे न कदर्यो न मद्यप: ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरीस्वैरिणी कुत: ।। (छान्दोग्योपनिषद)

वर्तमान कालिक पर्यावरणप्रदूषण से बचने के लिए अग्निहोत्र और यज्ञ अतीव सरल अनुपम वैज्ञानिक पद्धति है। □□

यजुर्वेद में पर्यावरण-चेतना

द्यौ: शान्ति: अंतरिक्ष शान्ति:
पृथिवी शान्ति: आप: शान्ति: ओषधय: शान्ति:
वनस्पतय: शान्ति: विश्वेदेवा: शान्ति:
ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्ति:
शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तिरेधि ।

आकाश में शान्ति हो, अंतरिक्ष में शान्ति हो, पृथिवी पर शान्ति हो, जल (सागर) ओषधियों और वनस्पति (वन) में शान्ति हो, विश्वदेवों और ब्रह्म (सृष्टिकर्ता) में शान्ति हो, सर्व और सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो तथा मुझे भी शान्ति प्राप्त हो।

प्रदूषण की समस्या पर प्राचीन भारतीय दृष्टि

डॉ० श्याम सुन्दर निगम
डॉ० महेन्द्र सिंह वर्मा

पर्यावरण एवं उसके प्रदूषण की समस्या प्राचीन भारतीय तत्वान्वेषकों एवं वैज्ञानिकों के सतत चिन्तन का विषय रही है। उन्होंने प्रदूषण को 'विकृति' की संज्ञा दी। 'विकृत' की प्राचीन भारतीय अवधारणा का क्षेत्र प्रदूषण सम्बन्धी हमारी आधुनिक अवधारणा से पर्याप्त व्यापक था क्योंकि उसके अन्तर्गत वातावरण, वनस्पति, जल, मृत्तिका आदि के प्रदूषण पर ही विचार नहीं किया गया अपितु मनुष्यों की मानसिक एवं बौद्धिक कुत्साओं जैसे पहलुओं पर भी चिन्तन किया गया। यहाँ इस विषय पर कुछ विस्तार से चर्चा कर लेना उचित होगा।

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ **ऋग्वेद** में वैदिक आर्यों की प्रदूषण सम्बन्धी चिन्तन के कुछ सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। एक ऋचा में वनस्पति और जल को प्रदूषण से मुक्त रखने की देवताओं से प्रार्थना की गई है ताकि प्रदूषण विहीन निसर्ग के सान्निध्य में जनों को आरोग्य प्राप्त हो सके--

> यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परिजायते विषम्।
> विश्वेदेवा निरितस्तदसुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत्सरुः॥
> (ऋग्वेद, 7/50-3 एवं 7/49-2)

इसी प्रकार कठोर ध्वनि (ध्वनि प्रदूषण) से उत्पन्न भय से मुक्त किए जाने सम्बन्धी प्रार्थना भी हमें **ऋग्वेद** में मिलती है--

> अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणात।
> पिगन परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्॥ (8/69-9)

इसी प्रकार अन्य ऋचा द्वारा जल, औषधि एवं बुद्धि को पवित्र (प्रदूषण मुक्त) रखने सम्बन्धी अभीप्सा की गई है--

> पवस्वाद्भ्यो अदाभ्यः पवस्वौषधीभ्यः।
> पवस्व धिषणाभ्य॥ (ऋ० 9/59-2)

एक अन्य मंत्र (2-5/15-6) द्वारा द्यौ पिता (पर्यावरणीय देवता) पृथ्वी माता, सोम भ्राता एवं अदिति बहिन के लिए प्रार्थना की गई है कि वे प्रदूषणजन्य कुप्रभाव से मुक्त बने रहें--

> द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
> अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सुकम्॥

वैदिक वाङ्मय द्वारा प्रस्तुत ऐसे सन्दर्भों को मात्र प्रासंगिक या [illegible] मान लेना

एक स्पष्ट भूल होगी क्योंकि हम पाते हैं कि सैंधव सभ्यता के निर्माता अपने नगरों व कस्बों में नागरिकों के स्वास्थ्य एवं समस्त परिवेश को प्रदूषणमुक्त रखने की दिशा में अनन्यतम सचेतन थे। नगर को स्वच्छ रखने, तरण-पुष्करों का निर्माण करने, अन्तः प्रवाही नालियों का निर्माण करने सम्बन्धी मामलों में वे समकालीन विश्व में सर्वाग्रणी थे। सैंधव नगरों यथा हड़प्पा, मोहेन जोदड़ो, कालीबंगा, लोथल, कोटदीजी के पुरावशेषों ने वैदिक वाङ्मयीन सन्दर्भों को पर्याप्तरूपेण प्रमाणित किया है।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों, विशेषतः आयुर्वेद के आचार्यों ने प्रदूषण की समस्या पर व्यापक एवं विज्ञान-सम्मत चर्चा की है। इस प्रकरण को संक्षेप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से केवल **महर्षि चरक** द्वारा प्रतिपादित निष्कर्षों का उल्लेख यहाँ समीचीन होगा। आचार्य चरक के विचार जहाँ एक ओर क्रमबद्ध एवं व्यावहारिक हैं, वहीं दूसरी ओर दार्शनिक एवं मनोविश्लेषणात्मक भी।

'आयुर्वेद' प्राचीन भारतीय स्वास्थ्य-विज्ञान है। उनके अनुसार स्वास्थ्य शरीरस्थ त्रिदोषों, अग्नियों, मलों, क्रियाओं, अन्तःकरण की वृत्तियों आदि के मध्य समता अथवा सन्तुलन का ही अन्य नाम है जो आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता द्वारा अभिव्यक्त होता है—

समः दोषः समाग्निश्च समः धातुः मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थमिति विधीयते ।।

(सुश्रुत संहिता)

दोषादिकों के साम्य को आरोग्य एवं उनके वैषम्य को रोग माना गया है—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।

'चरक संहिता' आचार्य पुनर्वसु आत्रेय के आधार पर व्यष्टि पुरुष का साम्य प्रस्तुत करती है। पुरुष की ही भाँति लोक होता है। पुरुष और लोक पुरुष (ब्रह्माण्डीय शरीर) की संरचना एक समान ही होती है। जितने भाव पुरुष में होते हैं, उतने ही लोक में होते हैं। उस लोक-पुरुष की पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश एवं अव्यक्त ब्रह्म (चेतना) नामक षड्धातुएँ ठीक वैसी ही होती हैं जैसी कि हमारे शरीर में होती हैं। लोक का शरीर पृथ्वी, जलीय तत्व, अग्नि तत्व, प्राणवायु तत्व, छिद्र-समूह आकाश और अन्तरात्मा ब्रह्म होती है।

पुरुषोऽयं लोकसंमितः इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। यावन्तो हि लोके (मूर्तिमन्तो) भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके ………।

× × ×

तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपःक्लेदः, तेजो अभिसंतापो, वायु प्राणः, वियत् सुषिराणि, ब्रह्म अन्तरात्मा………।

(चरक संहिता, शारीर स्थानम्, अ० 5/1-5)

चरक निष्कर्ष निकालते हैं कि मनुष्य के शरीर में जो स्थान रोग का है, वही लोक-समित पुरुष में प्रदूषण का है। पी० कुटुम्बिह (P. Kutumbiah) इस प्रकरण का सार 'एन्शियन्ट इण्डियन मेडिसिन' में निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

Psychological thinking in the medical schools was much influenced by the idea of the parallelism between the macrocosm and microcosm. It was believed that the principal forces and faculties which abide in the organism, giving it life and supporting its processes, were microcosmic counterparts of the powers which pervade the cosmic body and maintain it through their various antagonistic and co-operative activities.

—Ancient Indian Medicine. p. 61

इस प्रकार यह मानना अन्यथा न होगा कि व्यष्टि एवं समष्टि शरीरों के रोगों के कारण एक से ही हैं। इन कारणों की मीमांसा करते हुए चरकाचार्य कहते हैं कि काल (ग्रीष्म, शीत, वर्षा आदि), अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक ज्ञानेन्द्रियों के विषय) एवं कर्म (कायिक, मानसिक एवं वाचिक) के अतियोग (अत्याधिकता) अयोग (निष्क्रियता) एवं मिथ्यायोग (दुरुपयोग) के कारण पुरुष एवं लोक में विकृति उत्पन्न होती है।

काल बुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या चाति च दयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतु संग्रहः।

(चरक संहिता, सूत्रस्थान, 1/54)

चरक विकृतियों के आन्तरिक कारणों, जिन्हें वे प्रज्ञापराध कहते हैं, पर अधिक जोर देते हैं। उनके अनुसार धी (बुद्धि), धृति (धैर्य), एवं स्मृति का भ्रष्ट अथवा विसंतुलित होना समस्त विकृतियों एवं दोषों का मूल कारण है—

धी धृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वप्रदोष प्रकोपणम्॥

(चरक संहिता, शारीरस्थान, 1/102)

मनुष्यों के प्रज्ञापराध के कारण ही जनपदोध्वंस (क्षेत्रीय विकृतियाँ) आती हैं और जनपदों को महामारी, दुर्भिक्ष, पर्यावरणीय समस्याएँ आदि त्रस्त करने लगती हैं।

प्रज्ञापराध कौन करता है ?

चरक के मत में इन विकृतियों का कारण मनुष्यों के कुकर्म हैं। यह अधर्म उच्च वर्ग प्रारम्भ करता है जो निम्नतर सोपानों से होता हुआ जन-सामान्य को भ्रष्ट कर देता है। देश, जनपद एवं नगर निगम आदि प्रमुख जब अपनी जनता के प्रति कर्तव्य-च्युत हो भ्रष्ट हो जाते हैं तो उनके अधीनस्थ कर्मचारी, आश्रित, व्यापारी एवं उपरान्त सामान्य प्रजाजन भी भ्रष्ट हो जाते हैं। इस स्थिति में धर्म तिरोहित हो जाता है, देव-वृत्तियों का अभाव होने लगता है, ऋतुएँ धोखा देने लगती हैं तथा विभिन्न तत्व प्रदूषित हो उठते हैं।

यदा वै देश नगरनिगम जनपद प्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रितः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च, ततः सोऽधर्मः प्रसभं······।

(चरक संहिता, निदान स्थान, 3/20)

प्रदूषण फैलने का क्रम

चरक ने अपनी संहिता के निदान स्थान के तीसरे अध्याय में प्रदूषण के निम्न सोपान बताए हैं——

प्रथम सोपान——मनुष्य जब स्वार्थ के वशीभूत होकर युद्धों, उपद्रवों, सामाजिक एवं आर्थिक शोषण तथा अहंकारादि मानसिक दोषों से ग्रस्त हो जाते हैं तो वे पूज्यों, वयस्कों एवं अतीन्द्रिय शक्तियों से युक्त श्रेष्ठ जनों का अपमान एवं तिरस्कार करने लगते हैं । शोषित वर्ग की हाय एवं पूज्य वर्ग के अभिशाप के फलस्वरूप दुर्निवारणीय प्रकोप एवं प्रजा-नाश की विभीषिका मुँह वाये खड़ी हो जाती है ।

द्वितीय सोपान——मानवीय एवं प्राकृतिक साधनों के स्वार्थपरक एवं विवेकहीन विदोहन से ये स्रोत चुकने लगते हैं, परिणामस्वरूप ऋतु-विकार उत्पन्न हो जाता है । इससे जनपद के सामान्य भावों में भी विकृति आ जाती है ।

तृतीय सोपान——जनपद के बहुत ही महत्वपूर्ण चार भावों यथा वायु, जल, देश और काल में विकृति आने लगती है ।

वायु-विकृति——ऋतु के विपरीत या निश्चल या अति वेगवान् वायु हो जाती है । उसमें ध्वनि-कर्कशता, अति उष्णता, अति रुक्षता, दुर्गंधता, धूम्रता, चक्राकारिता, धूलियुक्तता आदि दोष आ जाते हैं ।

जल-विकृति——जलीय स्रोत शुष्क, कीचड़ एवं दुर्गन्ध युक्त तथा जलचरविहीन हो जाते हैं । पेयजल गुणहीन एवं स्वादहीन हो जाता है ।

देश-विकृति——धरती विवर्ण, बुरी गन्धवाली, स्पर्श से रोगकारी, हिंसक एवं विषैले जन्तुओं एवं वनस्पतियों से युक्त, अनुर्वरक एवं डरावनी हो जाती है । चारों ओर घबड़ाहट, चिन्ता, चीत्कार एवं क्रन्दन ही सुनाई पड़ता है । उल्कापात, भूकम्प एवं भूचाल जैसी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है ।

काल-विकृति—ऋतु के सामान्य लक्षणों से विरुद्ध जलवायु हो जाती है । ऋतु का सहज क्रम और अपना नियम अनेक प्रकार से भंग हो जाता है ।

प्रदूषण का उपचार

चरक के अनुसार प्रदूषण की समस्या मनुष्य-बाह्य न होकर आन्तरिक एवं मानव-सापेक्ष है । वस्तुतः प्रदूषण की समस्या के मूल में प्रज्ञापराध ही हैं । जब तक मानव-समाज में धी, धृति, एवं स्मृति का विवेकपूर्ण संतुलन नहीं होता, भ्रष्टाचार एवं शोषण का समापन नहीं होता, निहित स्वार्थों के द्वारा प्राकृतिक सम्पदाओं का अदूरदर्शितापूर्ण विदोहन नहीं रोका जाता तथा जब तक मानवीय भावनाएँ तथा सांस्कृतिक शिष्टाचार हृदय से अनुपालित नहीं होते, प्रदूषण की समस्या का निराकरण असम्भव है ।

प्राचीन अथवा मध्य युग में ही नहीं अपितु आधुनिक युग में भी प्रदूषण की समस्या के उपचार के लिए मनुष्य को बाहर कम, भीतर अधिक झाँकना होगा, मानवीय मूल्यों का पालन करना ही पड़ेगा ।

□□

क़ाफ़िले गुम हैं समस्याओं में

श्यामसरन विक्रम

समस्याओं के हल······?

हल तो दूर—बहुत दूर।

शायद कि इक्कीसवीं सदी के सुप्रभात तक कुछ बात बन सके।

तब भी बन जाये तो वह एक महान् उपलब्धि होगी।

आज तो समस्या की तह तक पहुँचना, उसे निकटता से देखना और समझ पाना ही हमारी दूरस्थ मंजिल का प्रथम सोपान होगा।

और······इधर के एक-डेढ़ दशक में हमने अपने इस अभियान में प्रगति भी तो की है! यही क्या कम है कि अपने पाँव धरती से उठाकर हम आस्मान की बुलंदियाँ नापने के ख्वाब देखने काबिल हो गये हैं? प्रदूषण-समस्या माटी की हो, पानी की हो, खाद्यान्नों की या खेतों-खलिहानों की हो, हम उनसे तो काफ़ी ऊँचे उठ आये हैं। नवधा भक्ति के नौ सोपानों की तरह धरती की वे समस्यायें प्रथम सोपान पर थीं।

आज भी हैं, कल भी रहेंगी।

उनके संभावित हल······?

फिर वही बात! आज हम हल की तो सोच ही कहाँ पा रहे हैं?

आज हमारे मन का क़ाज़ी इसलिए दुबला है कि इसे शहर का नहीं, शहर की धरती से लिपटे हुए और 15-20 कि०मी० ऊँचाई तक के मोटे वायु-आवरण—ट्रोपोस्फीयर का अंदेशा है। जो वातावरण हमारी धरती को आवरित किये हुए है उस परि-आवरण याने पर्यावरण को ख़तरा!!

यही हमारी आज की समस्या।

यों तो पृथ्वी को आवरित किये हुए समूचा वायु-आवरण विभिन्न पाँच स्तरों में विभाजित, हमारी भूमि-सतह से 500-600 कि० मी० की ऊँचाई तक पहुँचा है; परन्तु हमारे निकटतम सम्पर्क में इस ट्रोपोस्फीयर पर ही हमारी रणनीति केन्द्रित है।

तो आइये, हवा से ही बातें करें।

आज का युग, समस्या-युग है। आज तो अणु-युग भी पिछड़ता जा रहा है। समस्याओं की कमी कहाँ है? बल्कि समस्याओं से मुक्त, कोई वस्तु है भी क्या? विश्व-स्तरीय बात करें तो 2% प्रतिवर्ष बढ़ती हुई विस्फोटक विश्व-जनसंख्या हो; या दस अरब से भी अधिक जनसंख्या कुपोषण से पीड़ित हो; सब कुछ पीस देने वाली सर्वशक्तिमयी ग़रीबी हो, या हमारे जीवन के आधार, प्रकृति के उपहारों की, वनराशियों की निर्बाध

लूट खसोट हो, स्वनिर्मित ये समस्यायें परस्पर गठबंधित भी हैं।···और, आज भस्मासुर की भाँति हमी से उत्पन्न हमारा दैत्य हमारे ही सर पर हाथ रखकर हमारे भस्म होने का तमाशा देखना चाहता है। इसलिए आज के विषय को हम 'पर्यावरण-समस्या' की अपेक्षा सुन्दरतर और अधिक प्रभावी नाम दे दें—'पर्यावरण-क्रान्ति !'

प्रकृति की संतुलन-क्षमता असीम है और अमाप्य भी। इसीलिए कहीं-कहीं, कभी-कभी अबूझ भी लगती है। मानव-जगत्, वनस्पति और अन्यान्य प्राणी-जगत, मौसम के तेवर, ये सब तो प्रकृति सन्तानें हैं। इनमें से जिसने मर्यादोल्लंघन नहीं किया। अपने आप में और प्रकृति मैया के कहे में रहा, उसने कभी कष्ट नहीं पाया। बिछी बिसात पर प्रकृति की ये करिश्माकारी द्यूतचालें हैं जो ईमानदारी से किसी का अमंगल नहीं चाहती। यह मानव ही है जो जन्मजात बन्धन-भंजक रहा है। जब मातृगर्भ में ही इसने चैन न लिया, न लेने दिया तो बाहर आकर जो खुराफात न करे, उसी का अचरज होगा। माँ के समीप हुड़दंग मचाते नटखट बालक की भाँति यह तो अपनी उठा-पटक किये ही जाता है। मानव यदि संतुष्ट और शान्त बैठा रहा तो आस्मान न टूट गिरेगा ? अपनी भौतिक विलास-क्रीड़ाओं हेतु, नित नयी उपजती अजीबोग़रीब आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ यह क्या कुछ नहीं कर गुजरता ?

कोढ़ में खाज एक यह भी कि प्रयोगसिद्ध और प्रमाणतः अनुसंधानित तथ्यों तक पहुँचने के परिश्रम से जी चुराता हुआ हमारा मन यत्र-तत्र सतही झलकियाँ पढ़ कर अपने मन भुलावन में मगन रहता है। दो नमूने देखिये—

(1) 'कौन कहता है कि बढ़ती हुयी जनसंख्या के लिए हमारी पृथ्वी छोटी पड़ जायेगी ? हाल ही तो जेट-विमान से विश्व-यात्रा करके लौटा हूँ। नीचे अनन्त, फैले, पसरे, बेतरतीब ऐसे-ऐसे निर्जन भूमि-विस्तार पड़े हैं कि बढ़ती आबादी इतनी विकट समस्या नहीं, जितनी कि उन समस्त खाली पड़े भू-विस्तारों का जनसंख्या में सुनियोजित बुद्धिमानी-पूर्ण भूमि-वितरण।'

(2) 'आज की समस्याएँ अभी तो विज्ञान की सामर्थ्य-सीमा में हैं। खाद्य पूर्ति के लिए अभी तक अनछुए निःसीम भूखंडों पर युद्ध स्तरीय व्यापक कृषि-अभियान; मत्स्य-प्राप्ति हेतु सागर मंथन में तीव्रता; मरुस्थलों का जल-सिंचन और अल्पमोली, किफ़ायती अणुशक्ति उत्पादनों का अधिक प्रसार। विज्ञान के पास इतने सेनापति कुछ कम हैं क्या ?'

मुश्किल यह है कि प्रबुद्ध वैज्ञानिक भी इन सैद्धान्तिक मुद्दों तथा इनकी प्रायोगिक सम्भावनाओं, सफलताओं के बीच की खाई को पाटने में अभी भी अक्षमता अनुभव कर रहे हैं।

यों एक प्रकार से सारा ईमान अणुशक्ति पर आकर टूटता है; मानो अणुशक्ति का उत्पादन क्या हुआ, जादुई चिराग़ हो गया जो दिया एक घिस्सा···और, बेड़ा पार ! तो, आइये, अणु-ऊर्जा के करिश्मों पर भी एक नज़र डालें।

प्रथम तो एक यह मूल धारणा बदलना आवश्यक है कि अणु-ऊर्जा का उत्पादन किफायती मूल्यों पर हो सकता है। सचाई यह है कि एक बृहद् अणु-ऊर्जा उत्पादक प्रतिष्ठान समान क्षमता वाले, उतने ही बृहद्, कोयले से ऊर्जा बनाने वाले संस्थान के

समकक्ष महँगा पड़ेगा। मध्यम और लघु स्तरीय अणु-ऊर्जा उत्पादक तो और भी महँगे पड़ेंगे। इसकी वरदान-सिद्धि तो इसमें है कि जहाँ कोयला तथा अन्य ईंधनों का अभाव हो वहाँ एक मात्र अणु-ऊर्जा से ही पार लगती है।

स्मरणीय है सन् 1958 की अपने आप में द्वितीय ऐतिहासिक अणु-ऊर्जा पर जेनेवा-कान्फ्रेन्स, तत्पूर्व प्रथम कान्फ्रेन्स सामान्य रूप से 1955 में आयोजित हो चुकी थी, उस सन् 1958 की कान्फ्रेन्स में 69 राष्ट्रों की 46 सरकारों और 6 अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों की ओर से 6300 सदस्यों ने भाग लिया और 2135 निबन्ध भी पढ़े गये, एक प्रकार से वही विश्व में अणु-ऊर्जा-उत्पादन रूपी सुरगंगा का मानो स्रोत थी, गोमुख थी। तब से लगभग 21 वर्षों के इस अन्तराल में गोलगुम्बद को दूर ही से दर्शाता एक-एक अणु-ऊर्जा-संस्थान अपने देश, अपने राष्ट्र का प्रतिष्ठा-प्रतीक माना जाता रहा है। उस कान्फ्रेन्स में लिये गये निर्णय इन आशाओं, आकाक्षांओं और अनुमानों पर आधारित थे कि अणुशक्ति अब मानवता के सारे दुख-दर्द रफा-दफा कर देगी; इससे हमें निस्सीम मात्रा में विद्युत-ऊर्जा प्राप्त होती रहेगी; यह महँगी नहीं पड़ेगी; यह प्रदूषणों के जंजाल से हमें मुक्त रखेगी, इससे हम थल-यान, जल-यान और वायु-यान चला सकेंगे और भी न जाने कैसे-कैसे हवाई किले हमने खड़े कर लिये थे !!

इस सब के साथ यह नहीं सोचा जा सका था कि इसके अवशिष्टों का निपटान निरापद रूप में कैसे-कैसे सम्भव होगा तथा यदि दुर्भाग्यवश कभी दुर्घटना से सामना पड़ गया तो हम पर क्या बीतेगी ? बीच की अवधि में संयुक्त राज्य अमेरिका का थ्री-माइल-द्वीप और सोवियत् यूक्रेन का शरनोबिल अणु-दुर्घटनाओं की चपेट में ऐसे आए कि इस शक्ति के भरोसे जमे हुए पाँव डगमगा गये। आज तो अणु-ऊर्जा के अवशिष्टों का निपटान करने के तौरतरीके सोचते-सोचते हमारा वैज्ञानिक सिर-दर्द ले बैठता है। अवशिष्टों को यदि सागर-समाधि दी तो महासागरीय जन्तु-जगत् की शामत, और भू-गर्भ की गहराइयों में दफनाया तो धरती अपना धरम छोड़ देगी; कब भूकम्प अथवा ज्वालामुखी बिफर जायें, कुछ कह नहीं सकते।

इस लेख के आरम्भ में कही गयी बात लगभग एक हजार शब्दों बाद यहाँ दोहराना अनुचित न हो तो कहा जा सकता है कि हमारी बिल्ली हमीं को म्याऊँ की तरह हमसे उत्पन्न यह भस्मासुर हमीं को भस्म करने की खिलवाड़ सोच रहा है ! इन अणु-अवशिष्टों ने हमारे वायुमंडलीय आवरण याने पर्यावरण पर भी क्या कहर ढा रखा है, इसकी एक झलक देखते चलें :

हमने अपनी सर्वसुखदायिनी सृष्टि को अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं की तलाश में एक नहीं, दो दिशाओं से आक्रान्त कर रखा है, हमें खाली धरती चाहिये, इसलिये जंगलों का क्या काम ?…बस, जुट रहे हैं वन-सम्पदा को लूटने-लुटाने में और देर सवेर सुबुद्धि जागी तो वानिकी–पुन: संरक्षण के नाटक भी शुरू कर दिये—याने, रात को मधु पी ! प्रातः को तोबा कर ली !! इन सबके फलस्वरूप जब पर्यावरण के पूत के पाँव, पालने में डगमगा गये, सृष्टि का संतुलन हिल गया; दिसम्बर पंखों की और जून में कम्बलों की नौबत आगयी

[शेष पृष्ठ 29 पर]

फ़ैशन और प्रदूषण

विष्णुदत्त शर्मा

प्राचीन काल में मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट था। प्रकृति से अपार प्रेम होने के कारण हमारे पूर्वज भी स्वच्छ जल एवं वायु से युक्त सुन्दर उपत्यकाओं और उपवनों में निवास करते थे। उस समय का जन-जीवन अत्यन्त साधारण एवं सरल था। सभी लोग अपने आवश्यक कार्यों को स्वयं करते थे और वे प्रायः आत्म-निर्भर थे। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ हमारी आवश्यकताएं बढ़ती गई और धीरे-धीरे ग्राम और नगरों का विकास हुआ।

अनुकरण और स्पर्धा दोनों ही मनुष्य की स्वभाविक प्रवृतियां हैं, जिसे मनुष्य आदि काल से अपनाता आ रहा है और अनन्तकाल तक अपनाता रहेगा। स्पर्धा की दौड़ में होड़ लगाने का नाम ही फ़ैशन है।

आज फ़ैशन का युग है, पलक झपकते ही वर्तमान भूत बन जाता है और भविष्य वर्तमान का आकर्षक रूप धारण करता है। फ़ैशन का रंग-ढँग ही निराला है। कभी मूँछ पुरुष के पौरुष की परिचायक होती थी, किन्तु फ़ैशन की कैंची ने उसे काटकर तितली बना दिया और तितली बनते ही उड़ गई। पैंट की मोरियाँ कभी गरारानुमा हो जाती हैं तो कभी चूड़ीदार पायजामे का रूप धारण कर लेती हैं। सलवार ने स्लैक्स का रूप धारण किया और तत्पश्चात बैलबॉटम का। एक समय था जब नारी घर की शोभा समझी जाती थी, किन्तु आज उसने फ़ैशन की प्रदर्शिनी का रूप धारण कर लिया है। फ़ैशन की ऐसी आँधी आई कि नारी के सिर की ओढ़नी ही उड़ाकर ले गई। फ़ैशन की सर्दी से सिकुड़कर कपड़े शरीर पर फिट हो गए। कपड़ों का ढीलापन कहीं उसकी चुस्ती में रुकावट न बने, अतः वह "फिट" कपड़े पहनकर प्रसन्न रहने लगी। बाल कभी "साधना कट" बनाए जाते हैं तो कभी साड़ी पहन कर जलेबी जूड़े में फूलों की वेणी लगाई जाती है। चेहरे की लिपाई-पुताई करके "आई ब्रो पेंसिल" से भौहों को धनुषाकार देकर आँखों से बाहर निकाला जाने लगा। फ़ैशन ने "प्रसार" और "संकुचन" का वह तांडव नृत्य किया कि सम्पूर्ण विश्व उसकी चपेट में आए बिना नहीं रहा। परिणामस्वरूप पुरानी वस्तुओं के अम्बार लग गए और नवीन वस्तुओं की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं। इस अनुकरण एवं स्पर्धा के फ़ैशन ने प्रकृति को प्रदूषण के कगार पर खड़ा कर दिया और आज मानव जाति किंकर्त्तव्यविमूढ़ है।

कुछ समझदार महिलाएँ नवजात शिशुओं के होठों को कच्चे लाल रंग के कपड़े से दुग्ध पान के पश्चात पोंछ देती हैं और इस विधि से बच्चे के होठ आजीवन लाल बने

रहते हैं किन्तु अब होठों को कृत्रिम ढंग से फैशन के कारण लिपस्टिक लगाती हैं जिसके फलस्वरूप होठ फट जाते हैं और कैंसर की सम्भावना हो जाती है ।

एक समय था जब महिलाएँ अपने केश दूध, दही तथा मुलतानी मिट्टी से धोया करती और शरीर के रोमों को स्वच्छ रखने के लिए हल्दी युक्त उबटन का प्रयोग किया करती थीं किन्तु आधुनिक पुरुष और महिलाएँ बाजार में ऊँचे दामों पर बिकने वाली उत्तम श्रेणी की कही जाने वाली साबुन का प्रयोग करते हैं और फलस्वरूप सिर में सिकरी (dandruff), शरीर की त्वचा का फटना, मस्तिष्क में शुष्कता तथा अन्य अनेक त्वचा के रोगों को पालते हैं । क्योंकि साबुन में कास्टिक पोटाश, हैक्जाक्लोरोफीन आदि रसायनों का प्रयोग किया जाता है । पहले नीम, मौलसिरी, कीकर, खजूर, माजूफल आदि वृक्षों की टहनियाँ दातून के रूप में उपयोग में लाई जाती थी लिन्तु आज दाँतों का क्षरण करने वाला क्लोरोफिलयुक्त टूथ-पेस्ट प्रयोग किया जा रहा है ।

भारत में यवनों के आगमन से पूर्व पालतू पशु के रूप में गाय, तीतर और कबूतर को अपनाया जाता था । गाय दूध रुचिकर, सुपाचक तथा प्रकृति जन्य सामयिक बीमारियों में लाभप्रद था । तीतर विषयुक्त खाद्यपदार्थ का संकेत देता और कबूतर संदेशवाहक के रूप में उपयोगी था । किन्तु आधुनिक समय में फ़ैशन के कारण कुत्ता, मुर्गी, बिल्ली, खरगोश, तोता, सूअर आदि पाले जाते हैं । विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के एक सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि पशुओं की दो सौ प्रकार की छूत की बीमारियों में से लगभग सौ प्रकार की बीमारियाँ मनुष्यों को अपने इन्हीं जन्तु-मित्रों से हो जाती हैं । पशुजन्य-रोगों में मुख्यत: रेबीज, हाइड्रोफोबिया, ब्रेसेलोसिस (माल्टा ज्वर), सिटकोसिस (तोता ज्वर), क्यू ज्वर तथा दद्रू (दाद) आदि हैं ।

आवश्यकता आविष्कारों की जननी है । ज्यों-ज्यों मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ती गयीं, त्यों-त्यों आविष्कारों ने अपने करिश्मे दिखाने आरम्भ किये । इन आवश्यकताओं की तृष्णा को बुझाने के लिए उद्योग-धन्धों की स्थापना हुई । शनै:-शनै: मनुष्य परिश्रम करने के बजाय आराम करने लगा और धनाढ्य लोग बिना परिश्रम का, विलास का जीवन बिताने लगे । अत: जितना मनुष्य बिलासिता का इच्छुक होता गया, संसार उतना ही मशीनीकृत होता गया । यहाँ तक कि इस औद्योगीकरण के कारण अनेक जटिल समस्याएँ सामने आने लगीं ।

अतीत के सभी कार्य एवं साधन लुप्त होते गए । हथकरघों के स्थान पर कपड़ा-मिलों का निर्माण हो गया । मनुष्य खादी के स्थान पर टेरीलीन, पॉलिएस्टर, टैरीकॉट और अब समरकूल का प्रयोग करने लगा । खादी जो ग्रीष्म ऋतु में शीतलता और शीत ऋतु में ऊष्णता प्रदान करती है, फ़ैशन ने उसके स्थान पर टेरीलीन धारण कराया और बदले में मिली रक्त में ऊष्णता एवं त्वचा के रोग । खादी हमारे शरीर का पसीना भी सुखाती थी किन्तु अब फ़ैशन में टैलकम पाउडर, बेबी पाउडर, क्रीम, साबुन और टॉयलेट लोशन प्रयोग किया जाने लगा । पाउडर में हैक्जाक्लोरोफीन रसायन विद्यमान होने के कारण अत्यधिक हानिकर है ।

आज बढ़ती हुई स्पर्धा और फलस्वरूप फ़ैशन ने विश्व में करोड़ों की संख्या में स्कूटर, मोटर साइकिल, बस, ट्रक तथा वायुयान जैसे यातायात के साधन सुलभ कराए हैं। किन्तु इन बेकाबू साधनों से कार्बन मोनोक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड, हाइड्रोकार्बन आदि प्रदूषक तत्व उत्सर्जित होते रहते हैं।

एक हजार गैलन पैट्रोल का उपयोग करने में एक मोटर वाहन निम्नलिखित पदार्थों को वायुमण्डल में उत्सर्जित करता है—

मोटर वाहन द्वारा विषैले पदार्थों का उत्सर्जन

कार्बन मोनोक्साइड	3,200	पौण्ड
कार्बनिक वाष्प	200-400	,,
नाइट्रोजन के ऑक्साइड	20-75	,,
विभिन्न एल्डीहाइड	18	,,
गंधक के यौगिक	17	,,
कार्बनिक अम्ल	2	,,
अमोनिया	2	,,
ठोस (जस्ता, धातुओं के ऑक्साइड, कार्बन)	0.3	,,

आजकल सभाओं में, पार्टियों में अथवा दफ्तरों में काम करते समय कुछ लोग फ़ैशन में आकर धूम्रपान करते हैं। मनुष्य शोक में तम्बाकू पीना या खाना आरम्भ करता है और फिर उसका दास बनकर रह जाता है। धूम्रपान के बाद उद्दीपन का अहसास करता है। सिगरेट के जलने का ताप 884 डिग्री सेल्सियस होता है। और इतने ऊँचे ताप पर धूम्र में ऑक्सीकरण, डिहाइड्रोजनीकरण, संघनन (condensation) होता है। इनमें मुख्य रूप से अम्ल, ग्लिसरोल, ग्लाइकोल, अल्कोहल एल्डिहाइड, कीटोन, एलिफेटिक तथा ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन और फ़ीनोल है। ऐरोमेटिक हाइड्रोकार्बन और फ़ीनोल कैंसर के कारण समझे जाते हैं। ये रसायन तम्बाकू की पत्ती में नहीं होते वरन् तम्बाकू जलने की क्रिया में बन जाते है। सिगरेट का कागज सैलूलौस का होता है जो इतने ऊँचे ताप पर पाइरोलिसिस से बैन्जपारीन बनाता है। यह भी एक कैंसर जनक पदार्थ है। धूम्रपान करने वालों को गले होंठ का कैंसर हो जाता है। उच्च रक्तचाप, पक्षाघात और चिरकालिक श्वसनीशोथ (bronchitis) एवं खाँसी हो जाती है।

आज के युवा वर्ग में पॉप-म्यूज़िक का एक ऐसा भूत सवार है कि वे इस बे-सिर-पैर के संगीत को न केवल दूरदर्शन पर ही सुनते और देखते हैं बल्कि घर पर टेप रिकार्ड के माध्यम से भी संतुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इस पॉप-म्यूज़िक के अभिनय का विवाह-शादियों में बैंड की धुन पर अभ्यास करने का प्रयत्न करते हैं और शेष तृष्णा होटलों में पूरी करते हैं। धार्मिक अन्धानुयायी मंदिरों, मस्जिदों तथा गुरुद्वारों पर लाउड-स्पीकर की तीव्र ध्वनि से दूसरों की नींद हराम करके, बुद्धिजीवियों, अस्वस्थ प्राणियों एवं अध्ययनरत छात्रों की हार्दिक गालियों के अभिशापों से बोझिल ईश्वर के कृपात्र की संज्ञा पाते हैं।

पॉप-म्यूजिक के प्रेमियों, उत्सवों के आयोजकों तथा धार्मिक नेताओं के लिए ऊँची आवाज़ में कार्यक्रम का सुनना एक फ़ैशन है। ऊँची ध्वनि में रेडियो, लाउडस्पीकर तथा टेलीविजन सुनने वाले तो मन्द बुद्धि होते ही हैं किन्तु इसके अतिरिक्त ऊँची आवाज़ में बोलने वाला व्यक्ति भी बुद्धिमान नहीं होता—ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। शोर के कारण स्थायी श्रवण दोष होता है, कार्य-क्षमता में कमी आती है, झुंझलाहट पैदा होती है और स्वास्थ्य खराब होता है। हमारे हृदय, मस्तिष्क, केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र तथा आमाशय पर कुप्रभाव पड़ता है। गर्भवती स्त्रियों एवं गर्भस्थ शिशुओं पर शोर का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। शोर के कारण रक्तचाप, श्वसन-गति तथा नाड़ी-गति में उतार-चढ़ाव, जठरांत्र गतिशीलता में कमी और रुधिर-संचरण में परिवर्तन होता देखा गया है। कहा है सोते को जगाया जा सकता है किन्तु जागते को जगाना कठिन है इसीलिए इस युवा पीढ़ी को समझाना सरल कार्य नहीं है, क्योंकि दुराग्रही अपने आप को विश्व में सर्वाधिक बुद्धिमान समझते हैं जो उनका एक बहुत बड़ा भ्रम है। अतएव विज्ञान परिषद् के मंच से मैं केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों से निवेदन करूँगा कि टेलीविजन कार्यक्रम से पॉप-म्यूजिक को निकाला जाए, उत्सवों तथा धार्मिक स्थलों पर लाउडस्पीकर पर पूर्णतया रोक लगाई जाए क्योंकि शोर मस्तिष्क की नाड़ियों पर प्रभाव डालता है और परिणामस्वरूप दुर्घटनाएँ और अपराध बढ़ते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि विज्ञान और प्राविधिक विज्ञान ने बहुत उन्नति की जिसके कारण प्रत्येक क्षेत्र में पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है और मानव जीवन के लिए रहन-सहन, यातायात आदि की अनेक सुख-सुविधाएँ उत्पन्न हो गई हैं जिससे मानव जीवन बहुत सुखी और सुविधापूर्ण हो गया है। फिर भी जन-जीवन निरन्तर अशांत एवं असंतुष्ट होता जा रहा है और अनेक प्रकार की नई व्याधियाँ उत्पन्न हो रही हैं। मनुष्य का जीवन-स्तर जितना ऊंचा हो रहा है उतना ही वह अस्थिर तथा मूल्यहीन होता जा रहा है। स्पर्धा के कारण फ़ैशन इतना बढ़ चुका है कि कारखानों, मोटर गाड़ियों, स्कूटर, लाउडस्पीकर, वायुयानों की भरमार हो चुकी है और फलस्वरूप वातावरण दुष्प्रभावित होता गया। अतः यदि पर्यावरण को और अधिक प्रदूषित होने से नहीं रोका गया तो प्राणी का जीवन ख़तरे में है। यदि फ़ैशन करना है तो वृक्षारोपण का किया जाए, घर में ही वाटिका तैयार की जाए। मनुष्य का अंतिम और एकमात्र उद्देश्य पर्यावरण को इस प्रकार नियंत्रित करना है कि वह प्राणियों को मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करे और सभ्यता का विकास हो। □□

विज्ञान और जनचेतना

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

पूज्य बापू के जन्म दिन, 2 अक्टूबर को वैज्ञानिकों, कलाकारों एवं समाजसेवियों के मिले जुले जत्थे देश के हर कोने की ओर निकल पड़े—जनसाधारण में संगीत, नाटक, भाषण और वीडियो फिल्मों के माध्यम से वैज्ञानिक चेतना की अलख जगाने। 7 नवम्बर तक की अवधि में इन जत्थों ने कुल मिलाकर 25000 किलोमीटर की यात्रा की और लगभग पाँच सौ स्थानों पर अपने नुक्कड़ कार्यक्रम प्रस्तुत किए। इस 'भारत जन विज्ञान जत्था' का उद्देश्य इस भ्रम को तोड़ना है कि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में होने वाली शोध और उनके अनुप्रयोगों को समझना सामान्य जन की बुद्धि से परे है। स्पष्ट है कि इन जत्थों ने विज्ञान और जनता जनार्दन के मध्य एक पुल के निर्माण का प्रयत्न किया, क्योंकि यदि विज्ञान और तकनीकी के उद्देश्य अंततः मानव की जीवन शैली में मूलभूत परिवर्तन कर उसे आधुनिक बनाना है तो उसे प्रयोगशालाओं, फैक्ट्रियों एवं उच्च शिक्षा संस्थानों में कैद न रह कर जन-जन के हृदय और मस्तिष्क तक पहुँचना ही चाहिये।

देश की समाजरूपी प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों का यह नया प्रयोग निश्चय ही स्तुत्य है। जीवन शैली को आधुनिक बनाने के वैज्ञानिक प्रयत्नों की सफलता की सबसे बड़ी शर्त है—जन-जन में विज्ञान के प्रति चेतना का प्रसार। विज्ञान मनुष्य की उन्नति के पथ को एक नये प्रकाश से आलोकित करता है, उसमें नई समझ पैदा करता है तथा परम्पराओं को तोड़ने एवं परिवर्तन को आत्मसात करने की शक्ति देता है। लेकिन यह तभी सम्भव है जब यह नया प्रकाश कुछ विद्वानों और धनकुबेरों की निजी सम्पति न बन कर जन सामान्य तक पहुँच सके—या कहिये कि पहुँचा दिया जाय। अशिक्षा, जीवन के प्रति तर्कहीन अवैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं परिवर्तन का अंध-प्रतिरोध— ये सदैव आधुनिकता के मार्ग में सबसे बड़े रोड़े रहे हैं और रहेंगे।

विज्ञान सम्बन्धी जनचेतना के प्रसार के महत्व को आज के सभी उन्नत देशों ने समझा और इसीलिये वे आधुनिकता की दौड़ में सबसे आगे रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के चालीस वर्षों में हम क्या उतनी उन्नति कर सके हैं जो इस अवधि में ज़ार के शासन की समाप्ति के बाद रूस ने कर ली थी? स्मरणीय है कि ज़ार के समय के पिछड़े अंधविश्वासों से घिरे और वैज्ञानिक चेतना से हीन रूस ने मुक्ति के चालीस वर्षों के अन्दर-अन्दर 1957 में विश्व का प्रथम उपग्रह अन्तरिक्ष में प्रविष्ट करा दिया। चीन में भी इस अवधि में जो प्रगति हुई वह देश के कुछ द्वीपों में केन्द्रित न रहकर समग्र देश की जनता में परिलक्षित हुई। पश्चिमी देशों में भी ऐसा ही कुछ हुआ था परन्तु ये दो उदाहरण इसलिये लिये गये क्योंकि वे नवीनतम हैं। उक्त दोनों देशों ने प्रयोगशालाओं में कार्यरत वैज्ञानिकों

एवं जनसाधारण में वैज्ञानिक चेतना—या कहिये कि वैज्ञानिक साक्षरता का प्रसार करने वालों को समान महत्व दिया। उनका सोच ठीक था क्योंकि विज्ञान के प्रति जनसाधारण के अज्ञानी व जड़ बने रहने पर न तो वह कार्यकारी श्रमिक दल तैयार हो सकता है जो आधुनिकता के रथ को खींचने में सक्षम हो और उसे गाँव गाँव, खेत खेत, बस्ती बस्ती तक पहुँचा सके और न ही वह पथ तैयार हो सकता है जिस पर यह रथ तेज़ी से दौड़ सके। वस्तुतः दुर्घटनाओं की संभावना इतनी अधिक रहती है कि फायदे पर नुकसान हावी हो सकता है। इसका अर्थ समझना हो तो नीचे दिये गये भारत के कुछ उदाहरणों पर गौर करें।

1976 में तारापुर परमाणु बिजलीघर के एक कर्मचारी ने वह आला कहीं गिरा दिया जो ग्रहण की गई रेडियोधर्मिता रिकार्ड करता था। वैज्ञानिक चेतना से हीन वह कर्मचारी (गैर वैज्ञानिक) इस स्थिति से लापरवाह कार्य करता रहा। जब पता चला तब तक वह 18420 मिलिरेम की भीषण मात्रा ग्रहण कर चुका था जबकि पूरे वर्ष में 5000 मि० रे० से अधिक की मात्रा किसी के लिए भी ख़तरनाक हो सकती है। इसी प्रकार 1977 में एक रंगसाज महोदय एक वातानुकूलित कमरे में रेडियोधर्मी लांड्री बैग पर दिन भर पड़े खर्राटे भरते रहे। परिणाम हुआ कि उनके शरीर ने 16190 मि० रे० की मात्रा एक दिन में सोख ली। सत्तर के दशक में ही एक सर्वेक्षण ने स्पष्ट किया कि हस्पतालों के एक्सरे विभागों में काम करने वाले टेक्नीशियन न तो इन किरणों की रेडियोधर्मी प्रकृति से परिचित हैं और न ही उससे बचाव के प्रति चौकन्ने। किन्हीं-किन्हीं अस्पतालों में तो बचाव के उपकरण तक उपलब्ध नहीं हैं। परिणामतः कार्यकर्ता स्वयं तो इन किरणों के शिकार बनते ही हैं, बहुधा रोगियों का जीवन भी ख़तरे में डाल देते हैं।

निश्चय ही भारत आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है। जीवन के हर क्षेत्र में विज्ञान के नित नये अनुप्रयोगों से हम अपनी समस्याओं को सुलझाने के गंभीर प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु कहना पड़ता है कि विज्ञान के प्रति जनचेतना के प्रसार में बहुत उत्साह न होने के कारण यह प्रगति अधकचरी सिद्ध हो रही है। एक ओर तो जनचेतना के अभाव में जनता वैज्ञानिक शोध का पूरा लाभ उठाने में असमर्थ है तो दूसरी ओर विज्ञान और तकनीकी के नये अनुप्रयोगों से अनावश्यक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। यह इसी अभाव का करिश्मा है कि अधिकांश पढ़े लिखे लोगों को भी सन्तुलित आहार का महत्व ज्ञात नहीं है और इसीलिए पैसे की कमी न होने पर भी वे स्वास्थ्यप्रद भोजन नहीं कर पाते। मिठाई, नमकीन, यहाँ तक कि दवाओं तक में अमरैन्थ, मेटानिल यलो आदि कैंसरकारी रंगों का खुल कर प्रयोग हो रहा है परन्तु खरीददार अपने को रंगों के मोह से मुक्त नहीं कर पा रहा है। कभी-कभी तो बड़ी-बड़ी उत्पादक कम्पनियाँ भी विज्ञान के नाम पर मूर्ख बनाती हैं और पर्याप्त जनचेतना के अभाव में धड़ल्ले से सफल हो जाती हैं। टूथपेस्ट में फ्लोराइड का मिश्रण दन्त-क्षय को रोकने का कारगर उपाय है। परन्तु प्रचार द्वारा ऐसे टूथपेस्ट, हरियाणा, राजस्थान आदि राज्यों के उन क्षेत्रों में भी खूब बिकते हैं जहाँ पीने के पानी में ही अधिक फ्लोराइड की उपस्थिति के कारण फ्लुओरोसिस जैसी अपंग बनाने वाली

बीमारी एक गम्भीर समस्या है। निश्चय ही ऐसे स्थानों पर फ्लोराइडयुक्त टूथपेस्ट अनावश्यक खतरा पैदा कर रहे हैं। एक ऐसा ही उदाहरण विटामिनों के आवश्यकता से अधिक सेवन का है। धारणा तो यह है कि विटामिन केवल ताकत देते हैं—उनसे नुकसान का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

आइये अब विज्ञान के प्रति जनचेतना के अभाव में उसके नये अनुप्रयोगों से पैदा होने वाली समस्याओं का भी कुछ जायजा लें। पर्यावरण के स्तर के निरन्तर गिरते जाने की समस्या इसी से जुड़ी हुई है। हमारा किसान संश्लिष्ट खाद के व्यामोह में इतना गिरफ्तार हो चुका है कि प्राकृतिक कार्बनिक खाद का महत्व भूलता जा रहा है। उसे यह बताने का प्रयत्न भी सम्भवत: कभी किसी ने नहीं किया कि अधिक रासायनिक खाद अंतत: जल के स्रोतों को प्रदूषित करती है। पीने के पानी में 100 ppm से अधिक नाइट्रेट नहीं होना चाहिए पर रासायनिक खाद के अन्धाधुंध प्रयोग के चलते जल-स्रोतों का यह प्रदूषण धीरे-धीरे समस्या बनता जा रहा है। स्मरणीय है कि अधिक नाइट्रेट वाले जल के उपयोग से भी कैंसर होने के संकेत मिले हैं। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण कीटनाशकों के उपयोग का भी है। 1950 में इनका उपयोग प्रारम्भ हुआ और अब लगभग पचास गुणा बढ़ चुका है। जापान के बाद भारत ही इन रसायनों का विश्व का सबसे बड़ा उत्पादक है। हरित क्रांति के रूप में हमें इसका लाभ तो मिला पर समस्याएँ भी खड़ी हुईं। आज दूध, फलों, सब्जियों एवं अन्न में डी० डी० टी० एवं डाइएल्ड्रिन की मात्रा सहनीय सीमा से कहीं अधिक है। यह प्रदूषण कीटनाशकों के अत्यधिक एवं अनावश्यक उपयोग से ही पैदा हुआ है—यह कहने की आवश्यकता नहीं है। एक रपट के अनुसार इसी वर्ष जून-जुलाई में पंजाब में एक आर्गेनोफॉस्फेट कीटनाशक के गलत उपयोग से 12 किसानों की मृत्यु हो गई। उन्होंने इनका छिड़काव करते समय दस्ताने और फेस मास्क पहनने की सावधानी नहीं बरती थी।

शहरों में धुँयें के बादल छोड़ती मोटर, ट्रकों आदि को हम सभी ने देखा है। इस धुंयें में कार्बन मोनॉक्साइड, नाइट्रोजन की ऑक्साइड गैसें, हाइड्रोकार्बन गैसें तथा लेड जैसे विषैले तत्व होते हैं। इसी धुंयें में वातावरण (ट्रोपोस्फीयर) में ओज़ोन की मात्रा बढ़ा देने की क्षमता होती है। स्मरणीय है कि ओज़ोन स्वास्थ्य एवं कृषि दोनों के लिए हानिप्रद है। यदि हममें विज्ञान के प्रति पर्याप्त जागरूकता होती तो हम प्रयत्न करते कि अपनी गाड़ियों को इस हालत में रखें कि वे यह सर्वनाशी धुंआ कम से कम फेंकें। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण शोर के प्रति हमारी स्थितिप्रज्ञता है। दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता जैसे महानगरों में जहाँ अनेकों वैज्ञानिक एवं उच्च शिक्षा संस्थान केन्द्रित हैं, यह प्रदूषण सर्वाधिक है। इन नगरों में दिन में शोर का स्तर 90 डेसिबिल तक पहुँच जाता है तथा 60 से नीचे तो कभी भी नहीं गिरता जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्ड अधिकतम 45 डेसिबिल का है। फिर क्या आश्चर्य यदि प्रो० कामेश्वरन ने सर्वेक्षणोपरांत यह पाया कि यहाँ की आबादी में बहरापन सामान्य से काफी अधिक है। यदि जनता को शोर से सम्बन्धित वैज्ञानिक तथ्यों से परिचित कराने के प्रयत्न किये गये होते तो प्रदूषण के इस किले में निश्चित रूप से

दरार पैदा की जा सकती थी। 1976 में विज्ञान कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में प्रख्यात रसायनशास्त्री तकी खां ने इसी को महसूस करते हुए कहा था कि पर्यावरणीय प्रदूषण से निपटने के लिए क्या क़दम उठाये जायँ—यह इस बात पर निर्भर करता है कि लोगों में इस समस्या की जानकारी कितनी है। पर यहाँ तो हाल यह है कि विज्ञान का विद्यार्थी भी एस्बेस्टॉस के उपयोग के खतरों से परिचित नहीं है। अधिकांश तो यह भी नहीं जानते कि प्रयोगशाला में बेन्जीन के उपयोग में क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि विज्ञान के प्रति जन चेतना जाग्रत कैसे की जाय। इस सम्बन्ध में हमें ध्यान रखना पड़ेगा कि हमारे यहाँ शिक्षितों और शिक्षार्थियों के एक हजूम के साथ-साथ निरक्षर भट्टाचार्यों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग है। इसीलिए जहाँ पुस्तकों की आवश्यकता है वहीं विशेष प्रकार के किटों, खिलौनों, ड्रामा पार्टियों एवं एक्सेंटेंशन व्याख्याताओं की भी आवश्यकता है। इस दृष्टि से भारत जन विज्ञान यात्रा एक शुभ आरम्भ है। गाँवों में तैनात छोटे बड़े प्रशासनिक अधिकारीगणों को भी यह दायित्व वहन करना चाहिए। वस्तुतः उनकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकती है बशर्ते कि वे स्वयं इस कार्य की उपयोगिता के प्रति आश्वस्त हों। इस सम्बन्ध में शिक्षा की भूमिका निर्विवाद रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मुक्ति के दस वर्षों के अन्दर ही रूस में 90 प्रतिशत जनता शिक्षित होने की राह पर थी और हम कहाँ हैं ? उन्नत देशों में प्राइमरी से स्कूली शिक्षा समाप्त होने तक सामान्य विज्ञान पर पर्याप्त जोर दिया जाता है। यह एक शुभ संकेत है कि नई शिक्षा नीति में भी इस प्रकार की व्यवस्था की सिफारिश है।

वैज्ञानिकों को अपने सर्वेक्षणों तथा फील्डवर्क में स्थानीय आबादी का सक्रिय सहयोग लेना चाहिये। इससे जहाँ एक ओर तो उसमें चेतना जागृत होगी वहीं वैज्ञानिकों को भी एक नई सामाजिक दृष्टि मिलेगी। यह दुतरफा सहयोग वैज्ञानिकों को क्या दे सकता है—यह समझने के लिये यह जानना ही काफी है कि लोकोक्तियों एवं परम्पराओं में भी अनुद्घाटित वैज्ञानिक तथ्य छिपे हो सकते हैं। भूकम्पों की अग्रिम जानकारी के सम्बन्ध में चीन ने यही सूत्र पकड़ कर आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है।

विज्ञान के प्रति जन चेतना के प्रसार में एक बाधा भाषा की भी है। हमारे यहाँ बड़ी कक्षाओं में विज्ञान का सारा पठन-पाठन मुख्य रूप से अंग्रेजी में होता है। इसीलिये वे जो चेतना जाग्रत कर सकते हैं, जनसाधारण से कट जाते हैं—बल्कि काफी हद तक अपने को अधिक महत्वपूर्ण और सामान्य जन को मूर्ख समझने लगते हैं। निश्चित रूप से यह स्थिति उद्देश्य प्राप्ति में सहायक नहीं है। 1983 में इसी विज्ञान परिषद् के तत्वावधान में आयोजित "राष्ट्रीय विज्ञान गोष्ठी : वैज्ञानिक अभिरुचि" में प्रस्तुत अपने निबन्ध में "विज्ञान प्रगति" के सम्पादक श्री श्याम सुन्दर शर्मा ने इसी को वाणी देते हुये कहा था कि समाज में "वैज्ञानिक दृष्टिकोण के (अपनाये जाने के) मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है विज्ञान के प्रसार के माध्यम के रूप में भारत की अपनी ही भाषाओं की अवहेलना"। हालत तो यह है कि इस देश में चौराहों पर खींची गई ट्रैफिक रेखाओं पर भी अंग्रेजी में ही Slow, Dead Slow तथा Stop लिखा जाता है और सोच लिया जाता है कि रिक्शों, ट्रकों, तिपहियों आदि के लगभग निरक्षर चालक इसे पढ़ लेंगे।

विज्ञान के प्रति जनचेतना की आवश्यकता का महत्व अब स्वीकार किया जाने लगा है। नई शिक्षा नीति इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण है। गुजरात विद्यापीठ, गाँधीग्राम रूरल इंस्टीट्यूट, लोक भारती आदि ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों ने भी शुरुआत की है। रेडियो और दूरदर्शन भी अपना दायित्व कुछ कुछ समझते जा रहे हैं। ICAR, ICMR तथा CSIR जैसी संस्थाय भी जाग रही हैं। उनमें यह अनुभूति पैदा हो रही है कि इसके बिना उनके अधिकांश प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हो सकते हैं—शायद समस्यामूलक भी। ग्रामीण विकास के सिलसिले में CSIR द्वारा विकसित 250 से भी अधिक तकनीकें समाज में यदि ग्राह्य नहीं हो सकीं तो इसके पीछे इस चेतना के अभाव का निश्चित रूप से एक बड़ा हाथ रहा होगा।

□□

[पृष्ठ 20 का शेषांश]

तो हाय-तोबा मचा दी ! दूसरा कदम हमारे उठाया अणु-ऊर्जा-अवशिष्टों रूपी दानव-दल खड़ा करके। यों वामनावतार के दो चरण तो हो लिये, आगे जो न हो वही थोड़ा !!

निश्चय ही यह ध्यान रखना हमारे अपने हित में होगा कि आज का युग, तीस वर्ष पूर्व का युग नहीं है, उस युग में विज्ञान हमारे बुद्धि-विलास का खिलौना था; संभावित रूप में पर्यावरण को नियंत्रित करने के सपने लिये हुए था और था प्रबलतम अस्त्र, किसी युद्ध की स्थिति में। आज हमें यह सोचना पड़ रहा है कि मानव के अस्तित्व को सुरक्षित बनाये रखने के लिये हमारा विज्ञान हमें वरदान सिद्ध हो, इस दिशा में हमें, हमारे विज्ञान-महारथियों को क्या करना अभीष्ट होगा ? आज क़ाफ़िले गुम हैं समस्याओं में। □□

[पृष्ठ 33 का शेषांश]

करने का एक उपाय है। मनुष्य भी कम नहीं है, वह हर बीमारी का इलाज खोजने में जुटा है। आज प्रकृति ने 'एड्स' को अपने नए बाण के रूप में छोड़ा है। देखना है मनुष्य इसको नियंत्रित करने में कहाँ तक सफल होता है। वैसे भी यह एक कटु सत्य है कि हमारे द्वारा बनाए हुए हथियार किसी दिन हमारी ही मौत का कारण बनेंगे।

विपत्ति का दूसरा कारण वृक्षों का काटा जाना है। इसका सीधा-सा उपाय है अधिक वृक्ष लगाना। इसके लिए अनेक अभियान चल रहे हैं। वृक्षारोपण कार्यक्रमों को और भी गति देनी होगी। वैसे यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि वृक्ष ध्वनि प्रदूषण और वायुमंडलीय प्रदूषण के लिए सिंक का कार्य करते हैं।

तीसरा और अति महत्वपूर्ण कारण है इंजिनों का धुआँधार उपयोग। सिद्धान्ततः यह मान्य है कि अधिकतर इंजिन तेल या कोयले के दहन के बिना नहीं चलते अतः जब भी तेल या कोयले का दहन होगा तो प्रदूषण बढ़ेगा। इसका इलाज है ईंधन का पूर्ण दहन और हरी पट्टी तैयार करना।

अतः हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम पर्यावरण की सुरक्षा के लिये एन्ट्रॉपी पर नियंत्रण रखने का हर संभव प्रयास करें। □□

एन्ट्रॉपी और पर्यावरण

डॉ० एम० एस० वर्मा

आजकल सूखे और बाढ़ से मचे हाहाकार के समाचारों से समाचार-पत्र भरे रहते हैं। दूरदर्शन पर 'समाचार' कार्यक्रम के अन्तर्गत, कभी प्रधानमन्त्री और कभी अन्य मन्त्री-गण सूखाग्रस्त इलाकों का अवलोकन करते दिखाए जाते हैं तो कभी बाढ़ पीढ़ित इलाकों का। इन समाचारों को देखकर भिन्न-भिन्न वर्गों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। सत्ता-पक्ष के लोग सोचते होंगे कि उनकी पार्टी जी-जान से जनता की सेवा में लगी है, तो विपक्षी सोचते होंगे कि व्यर्थ में पैसा बरबाद किया जा रहा है।

किन्तु इन पक्ष और विपक्ष के अतिरिक्त हमारे नागरिकों का एक और वर्ग है जिसे हम प्रबुद्ध वर्ग अथवा बुद्धिजीवी वर्ग कहते हैं। वह वर्ग आज यह सोचने पर विवश है कि आखिर यह सब हो क्यों रहा है? आज हमारे सामने ऐसे कौन से कारण हैं जो सूखा और बाढ़ जैसे प्राकृतिक प्रकोपों के लिए उत्तरदायी हैं। क्या यह सब हमेशा से होता आया है या किसी विशेष समय से प्रारम्भ हुआ है? यदि यह सिलसिला किसी विशेष समय से प्रारम्भ हुआ है तो उसे रोकने के क्या-क्या उपाय किए गए और वे सफल क्यों नहीं हुए? उसी तरह के अनेक अन्य प्रश्न हैं जो न जाने कब से अपने उत्तरों की बाट जोह रहे हैं।

आइये, हम एक तर्कसंगत कल्पना के सहारे इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं। इसके लिए हमें उस युग से प्रारम्भ करना पड़ेगा, जब मानव अन्य जानवरों की तरह ही जंगल में घूमता था और जंगली फल या वन्य प्राणियों को खाकर ही अपना पेट भरता था। मान लीजिए उस समय सारी जमीन पर वृक्ष लगभग समान रूप से फैले हुए थे। अब इस भौगोलिक तर्क के आधार पर कि 'जहाँ पेड़ अधिक होते हैं, वहाँ वर्षा भी अधिक होती है, हम यह मान सकते हैं कि उस समय दुनिया भर में वर्षा समान रूप से होती थी।

यहाँ पर थोड़ा सा विषयान्तर करके यह समझ लेना, मेरे विचार से असंगत न होगा, कि जहाँ पेड़ अधिक होते हैं, वहाँ वर्षा अधिक क्यों होती है। यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि जहाँ पेड़ अधिक होंगे, वहाँ छाया भी अधिक होगी और छाया वाली हवा का तापमान धूपवाली हवा से कम होगा। धीरे-धीरे छाया और धूपवाली हवा में साम्य स्थापित हो जायेगा तो उस जगह के सारे वातावरण का तापमान कम हो जायेगा। फलस्वरूप वर्षा अधिक और सरलतापूर्वक होगी।

इसके अतिरिक्त, पेड़ों वाले क्षेत्र में, पत्तियों से वाष्पन होने के कारण, उस जगह के वातावरण में नमी अधिक होगी जो वर्षा में सहायक होगी। परन्तु जहाँ पेड़ नहीं हैं

अथवा मरुस्थल हैं, वहाँ ये दोनों कारक तो अनुपस्थित होंगे ही उल्टे वहाँ का तापमान अधिक होगा। अतः उसी हिसाब से वर्षा भी कम होगी।

उपरोक्त तथ्यों को जानने के बाद, हम कुछ तथ्य और जान लें तो समस्या को समझने में आसानी होगी। यह तो आज एक सर्वविदित तथ्य है कि ऊष्मागतिकी के तीन नियम होते हैं। पहला नियम कहता है कि विश्व की ऊर्जा संरक्षित है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ऊर्जा न तो उत्पन्न की जा सकती है और न नष्ट की जा सकती है, किन्तु उसका रूपान्तर अवश्य हो सकता है। दूसरा नियम कहता है कि अनुत्क्रमणीय अभिक्रियाओं से एन्ट्रॉपी बढ़ती है। साथ ही यह एक तथ्य है कि प्रकृति में सारी अभिक्रियाएँ स्वतः ही अथवा स्वभावतः ही घटित होती हैं और स्वतः घटित होने वाली सारी अभिक्रियाएँ अनुत्क्रमणीय होती है। अतः सारी प्राकृतिक अभिक्रियाएँ अनुत्क्रमणीय होती हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि प्रत्येक प्राकृतिक अभिक्रिया के बाद विश्व की एन्ट्रॉपी बढ़ जाती है। एन्ट्रॉपी को हम सरलतम शब्दों में अव्यवस्था या अस्तव्यस्तता कह सकते हैं। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्राकृतिक अभिक्रिया के बाद विश्व की अव्यवस्था बढ़ जाती है। इसीलिए **डॉ० डब्ल्यू० वी० भागवत्** कहते हैं कि हमारे सारे नेताओं को ऊष्मागतिकी का दूसरा नियम तथा पहला नियम दोनों पढ़ाए जाने चाहिए जिससे उनको यह मालूम रहे कि हमारे पास धन के स्रोत सीमित (संरक्षित) हैं और अनर्गल बकवास करने से अव्यवस्था बढ़ती है।

ऊष्मागतिकी का तीसरा नियम कहता है कि परमशून्य तक पहुँचना असम्भव है जिसका व्यावहारिक रूप में हम यह अर्थ ले सकते हैं कि विश्व में परमशान्ति स्थापित किए जाने की कोई सम्भावना नहीं है। अन्यथा भी जीवन का अर्थ है क्रियाशीलता और क्रियाशीलता हमेशा एन्ट्रॉपी बढ़ायेगी ही, घटायेगी नहीं। अतः जीवन के रहते परमशान्ति मिलना एक स्वप्न मात्र है।

आइए, हम फिर अपने पूर्वजों के पास लौट चलते हैं, जो जंगलों में रहते थे और जंगली फलफूल तथा जानवरों को खाकर अपना पेट पालते थे। अब मान लीजिए चारों ओर सब कुछ शान्त है और एक मनुष्य को अचानक भूख लगती है और मान लीजिए कि भोजन उसके पास है नहीं। तब वह क्या करेगा? वह उठेगा और सोचेगा कि उसे फल खाने हैं या शिकार करना है। यदि वह फल खाने का निश्चय करता है तो अपने फल तोड़ने में सहायक होने वाले हथियार उठायेगा, पेड़ तक पहुँचेगा और फिर फल तोड़ने का प्रक्रम करेगा। यदि शिकार करने का निश्चय करता है तो धनुष-वाण उठायेगा, शिकार तक चलेगा और यदि शिकार भागना प्रारम्भ करता है तो फिर उसका पीछा करेगा और अन्त में मारकर उसे अपनी जगह तक लायेगा। यह सब करने में कितनी अव्यवस्था बढ़ेगी, इसका थोड़ा सा अंदाज हम इस प्रकार लगा सकते हैं कि जब वह मनुष्य उठेगा, धनुष-बाण उठायेगा, शिकार का पीछा करेगा और उसे मारेगा तो इससे सारे वातावरण में एक हलचल पैदा होगी, एक अशान्ति फैलेगी। एक जीव के मारे जाने पर दूसरों पर भय छा जायेगा जिससे वे अपनी जान बचाने के प्रयास में इधर-उधर दौड़ेंगे जिससे तमाम झाड़ियाँ

और कमजोर पौधे टूटेंगे, उनकी जीवनलीला समाप्त होगी। कहने का तात्पर्य है कि अव्यवस्था यानी एन्ट्रॉपी बढ़ेगी।

जब पेड़-पौधे और जंगली जानवर अधिक थे तथा मनुष्य कम, तब मनुष्य को थोड़े से प्रयास से ही भोजन मिल जाता था अर्थात् उस समय मनुष्य अपना भोजन प्राप्त करने में थोड़ी ही अव्यवस्था फैलाता था, किन्तु ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ी, उसे अधिक भोजन की आवश्यकता पड़ी, जिसकी तलाश में वह एक जगह से दूसरी तथा दूसरी से तीसरी जगह घूमता था। फल और शिकार की उपलब्धि भी कम हो गई, अतः भोजन उसे अधिक प्रयास के बाद मिलने लगा। फलस्वरूप उसने अधिक अव्यवस्था फैलायी।

जब शिकार का मिलना लगभग असम्भव होने लगा तो उसे विवश होकर एक जगह पर रहना पड़ा और जीविका चलाने के विकल्प के रूप में खेती करने की सूझी। उसने जंगल के पेड़ काट-काटकर खेत बनाए और उस लकड़ी को मकान बनाने तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें बनाने में उपयोग में लिया। धीरे-धीरे जंगल इतने अधिक कट गए कि उससे वर्षा के सन्तुलन पर प्रभाव पड़ने लगा। यानी जहाँ पेड़ एकदम कम हो गए थे, वहाँ वर्षा कम होने लगी और उस ज़मीन में खेती करना कठिन होने लगा। अतः और खेत बनाने के लिए और जंगल काटे जाने लगे। फलस्वरूप वर्षा और कम होने लगी और मूल स्थल मरुस्थल में परिवर्तित होने लगे। समय के साथ-साथ मनुष्य मूल स्थल से दूर होता चला गया और मरुस्थल बढ़ते चले गए। इस अवधारणा के अनुसार, सहारा का मरुस्थल भी कभी हरे-भरे पेड़ और घास के मैदानों का स्थल रहा होगा। सितम्बर 1982 की 'साइंस टुडे' नामक पत्रिका इस कथन का समर्थन करती है। इसके पृष्ठ 14 पर एक लघु शीर्षक दिया हुआ है 'सहारा की नदियाँ'। इसमें स्पष्टतः बतलाया गया है कि किसी समय सहारा के मरुस्थल में नदियों तथा सहायक नदियों का जाल सा बिछा था। यहाँ कभी हरे-भरे घास के मैदान और घने जंगल थे। दक्षिण मिस्र से सूडान तक की अपनी यात्रा के बाद 'यू० एस० जिऑलोजिकल सर्वे' की सी० ब्रीड ने यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य व्यक्त किया था।

इसी पत्रिका में इसी पृष्ठ पर यह भी दिया गया है कि एक ब्रिटिश फर्म ने एक ऐसा पॉलिमर बनाया है जो अपने भार से 30 गुना अधिक पानी सोख सकता है। यह मिट्टी से कोई क्रिया नहीं करता तथा विषहीन है। अतः रेगिस्तानों में पेड़ उगाने में यह पॉलिमर उपयोग में लाया जा सकता है।

अपना पेट भरने भर का अनाज उगाने से मानव को सन्तोष नहीं हुआ। उसकी संचय करने की हवस जाग गई। अतः उसने अधिक खेत बनाने के लिए अधिक जंगल काटे और अधिक अन्न उत्पन्न किया। अब अन्न उसकी आवश्यकता से अधिक पड़ने लगा अतः उसने उसे अपने सम्बंधियों के यहाँ पहुँचाने की योजना बनाई। अतः पहिए का आविष्कार हुआ और बैलगाड़ियाँ आदि बनने लगीं जिससे एन्ट्रॉपी अधिक बढ़ने लगी।

संचय की इसी भूख ने उसे दूसरे पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। युद्ध के लिए उसे हथियारों की आवश्यकता पड़ी और चलने के लिए अच्छे रास्ते बनाने की। अतः उसने और जंगल साफ किए। फिर उसने इंजिन का आविष्कार किया जो आज

उसकी जान का दुश्मन बना हुआ है। आज जितना भी प्रदूषण हैं, सब इंजिन की वजह से। आज मानव स्वीकार करता है कि जिस आविष्कार को वह वरदान समझ रहा था, वह अभिशाप बन बैठा। चाहे ध्वनिप्रदूषण हो, या मिट्टीप्रदूषण या फिर जलप्रदूषण के लिए उत्तरदायी इंजिन।

आज परिस्थितियाँ ऐसी हो गई हैं कि मानव परेशान है, तनावग्रस्त है। उसे सूझ नहीं रहा कि वह क्या गलत कर रहा है और क्या सही। बस वह दौड़ रहा है, मंजिल कहाँ है उसे मालूम नहीं। वह अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को भूल चुका है। अभी अधिकारों का उसे एहसास है और उनका दुरुपयोग की सीमा तक उपयोग कर रहा है। इसे हम मानसिक प्रदूषण कह सकते हैं।

हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूखा, बाढ़, प्रदूषण आदि के लिए तीन कारक उत्तरदायी हैं—(1) जनसंख्या का बढ़ना, (2) वृक्षों का काटा जाना और (3) इंजिन का आविष्कार। अगर हमें इन विपदाओं से बचना हो तो इन तीनों कारणों को नियंत्रित करना होगा।

विस्तार में जाने के पूर्व मैं आपको एक छोटा-सा किस्सा सुनाना चाहता हूँ जिससे समस्या को समझने में भी सहायता मिलेगी और उसका हल खोजने में भी। एक दिन एक किसान अपने खेत में पानी लगा रहा था। नाली में कच्चा बाँध था। किसान मेंड़ पर बैठा हुक्का पीने लगा और अपने बेटे को पानी देखने के लिए बाँध के पास भेज दिया। बेटे ने देखा कि बाँध में से पानी रिस रहा है, अतः उसने मिट्टी खोद कर बाँध पर डालना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु मिट्टी बाहर की तरफ से डाल रहा था। काफी मिट्ठी डालने के बाद भी जब पानी का रिसना बन्द न हुआ तो उसने अपने पिता को बुलाया। पिता ने अन्दर थोड़ी-सी मिट्टी डालकर थोड़ा-सा दाब दिया तो पानी रिसना बन्द हो गया।

अब हम अपने असली मुद्दे पर आते हैं। सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण हैं जनसंख्या का बढ़ना। आज जनसंख्या को नियंत्रित करने के उपाय, लगभग उस किसान के बेटे द्वारा बाहर मिट्टी डालने के समान ही है। हम समस्या की जड़ काटने की बजाय उसकी पाल (पत्तियाँ आदि) काटने में लगे हैं। काग़ज़ पर बड़ी-बड़ी योजनाएं बनती हैं और काग़ज़ तक ही सीमित रह जाती हैं। उनको अमल में नहीं लाया जाता। इससे तनाव बढ़ता है, अशांति बढ़ती है। क्यों? क्योंकि हम अपने नैतिक मूल्यों को खो चुके हैं। अतः यदि हम वास्तव में शान्ति और तनावमुक्त वातावरण चाहते हैं तो हमें नैतिकता का सहारा लेना ही पड़ेगा, लालच और लालसा को छोड़ना ही पड़ेगा। जब मस्तिष्क शान्त और तनावमुक्त रहता है तो जटिल से जटिल समस्याओं का हल खोजने में भी वह समर्थ हो जाता है।

यहाँ पर यह चेतावनी देना असंगत न होगा कि यदि मनुष्य जनसंख्या को नियंत्रित नहीं करेगा तो वह कार्य प्रकृति को स्वयं करना पड़ेगा। वैसे भी **ल-शातोलिए** का सिद्धान्त कहता है कि किसी निकाय के कारक स्वयं को इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं कि साम्यावस्था बनी रहे। अतः मुझे ऐसा लगता है कि बीमारियाँ प्रकृति में जनसंख्या को सन्तुलित

[शेष पृष्ठ 29 पर]

नगर : एक पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य

डॉ० सिद्धनाथ उपाध्याय
सर्वेशचन्द्र कटियार

विश्व में नगरों की जनसंख्या एवं विस्तार में तेजी से वृद्धि हो रही है। सन् 1952 में विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या का 29 प्रतिशत नगरों में निवास करता था, सन् 1975 में 39 प्रतिशत और सन् 2000 तक यह प्रतिशत बढ़कर 50 के लगभग हो जायेगा। उत्तरी अमेरिका, यूरोप व रूस को छोड़कर अन्य सभी देशों में यह वृद्धि अधिक तेजी से हो रही है।

भारत अभी भी गाँवों का देश कहलाता है। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार देश की 77.55 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। जनसंख्या का शेष 23.45 प्रतिशत भारत के नगरों को विश्व की सघनतम बस्तियों की श्रेणी में लाता है। भारतीय नगरों में जनसंख्या का घनत्व लगभग 3000 प्रतिवर्ग कि० मी० है जबकि गाँवों का 160 प्रतिवर्ग कि० मी०। इस शताब्दी के अंत तक भारत की शहरी जनसंख्या बढ़कर संयुक्त राज्य अमेरिका की वर्तमान सम्पूर्ण जनसंख्या के बराबर हो जाने का अनुमान है।

जनसंख्या में हुई तीव्र वृद्धि के मुकाबले, सार्वजनिक सुविधाओं में अपेक्षाकृत अत्यन्त कम वृद्धि हुई है। नगरों की वृद्धि को नियंत्रित करने की योजनाएँ या तो बनायी ही नहीं गयी हैं या फिर अविचारित रूप से बनायी व कार्यान्वित की गयी हैं। जहाँ थोड़ी बहुत योजनाएँ बनी भी हैं उन्हें निहित स्वार्थ वाले लोगों ने सफल नहीं होने दिया है। इन सब के चलते नगरीय सुविधाओं में कमी हुई है और पर्यावरण अवक्रमित हुआ है।

पर्यावरण

नगर का पर्यावरण कम जनसंख्या वाले ग्रामीण अथवा प्राकृतिक क्षेत्रों से भिन्न होता है। जैसे-जैसे नगर का विकास होता है उसकी जलवायु, वायु एवं भूमि की गुणवत्ता, पशु-पक्षियों एवं वनस्पतियों की संख्या तथा प्रकार आदि में परिवर्तन होता है।

जलवायु

नगरों का पर्यावरण अपेक्षाकृत कम आबादी वाले ग्रामीण तथा प्राकृतिक क्षेत्रों से भिन्न होता है। आज सामान्यतया शहरों को शोर-शराबे से पूर्ण एक प्रदूषित स्थान माना जाता है। कुछ दशक पूर्व ऐसी स्थिति नहीं थी। शिमला व मसूरी जैसे नगरों का वातावरण लोगों को पूरे भारत से अपनी ओर आकर्षित करता था। विकास योजनाओं एवं

जनसंख्या की वृद्धि के कारण इन नगरों की यह स्थिति बदलती जा रही है। सभी नगर स्थानीय जलवायु को प्रभावित करते हैं। जैसे-जैसे नगरों का विकास व परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे जलवायु में भी परिवर्तन होता है। उदाहरणस्वरूप नैनीताल व श्रीनगर जैसे पर्वतीय नगर जो कुछ दशक पूर्व अपनी स्वच्छ जलवायु के लिए विख्यात थे, उतनी अच्छी जलवायु वाले नहीं रह गये हैं।

नगरों की वायु की गुणवत्ता वहाँ विद्यमान प्रदूषणों की मात्रा के साथ-साथ नगरों से विभिन्न प्रदूषकों के बहिर्गमन पर भी निर्भर होती है। बहिर्गमन की गति नगरीय जलवायु के कई पहलुओं पर निर्भर होती है। नगर आस-पास के स्थलों से गर्म होते हैं। शीत ऋतु में नगर अपेक्षाकृत 1 या 2 अंश सेन्टीग्रेड से अधिक गर्म होते हैं व ग्रीष्म ऋतु में 0.5 से 1 से. ग्रे. तक। तापक्रम में यह वृद्धि कल-कारखानों, मोटरों, घरों आदि में ईंधनों के जलाने एवं अन्य क्रियाओं द्वारा उष्मा के प्रजनन के फलस्वरूप तो होती ही है, वायु में लटकते धूलिकणों द्वारा उष्मा के विसरण की दर में कमी भी इसे प्रभावित करती है। वायु में लटकते धूलिकण धरातल से उत्सर्जित **इन्फ्रारेड किरणों** को अवशोषित करने के साथ-साथ उन्हें धरातल की ओर पुनः परावर्तित भी करते हैं। जाड़ों में लोगों द्वारा घरों को गर्म रखने के लिए जलाए गये अलावों आदि से भी उष्मा में वृद्धि होती है। कांक्रीट, कोलतार की सड़कें, छतें आदि सौर-संग्राहक का कार्य करते हैं। ये अवशोषित उष्मा को शीघ्रता से उत्सर्जित भी कर देते हैं और नगर के वायुमंडल में उष्मा की वृद्धि में योगदान भी करते हैं।

नगरों में भवनों एवं अन्य अवरोधों के कारण हवा का बहाव भी आस-पास के स्थानों से अपेक्षाकृत धीमा होता है। सामान्यतया नगरीय हवा की गति 20 से 30 प्रतिशत तक कम पाई गई है तथा शांत-दिवसों (Calm days) की संख्या 20 प्रतिशत से ज्यादा होती है। नगरों के ऊपर वायुमण्डल में धूलिकणों की मात्रा आस-पास के क्षेत्रों से 10 गुना ज्यादा होती है। इन धूलिकणों के कारण पृथ्वी पर आने वाली सूर्य की उष्मा में 30 प्रतिशत तक की कमी होती है। परन्तु यह प्रभाव उष्मा के विसरण में कमी के मुकाबले नगण्य होता है।

नगरों के ऊपर चक्कर काटती हवा एवं उसमें उपस्थित धूलिकण व अन्य प्रदूषक "उष्मा द्वीप" और "नगरीय धूलि गुम्बज़" के कारण बनते हैं। आस-पास के अपेक्षाकृत कम गर्म ग्रामीण क्षेत्रों से शीतल हवाएँ नगर की ओर चलती हैं। नगर में ये ऊपर उठती हैं और पुनः नीचे की ओर आती हैं। इस प्रकार हवा का चक्रमण होता रहता है।

"उष्मा द्वीप" एवं "नगरीय धूलि गुम्बज़" कई नगरों के लिए समस्या बन चुके हैं। गर्मियों में इनसे अधिक गर्मी तो पड़ती ही है, हवा की गुणवत्ता में भी कमी होती है जिससे नगरवासियों को कष्ट का सामना करना पड़ता है। दिल्ली शहर इसका अच्छा उदाहरण है। पुराने नगरों में प्रदूषण की मात्रा में कमी करके ही उस स्थिति पर काबू पाया जा सकता है। नये नगरों में निर्माण के प्रारम्भ से ही इस समस्या पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

धरातलीय जल भण्डार की अनुपस्थिति तथा पक्के धरातल के कारण नगरों के जल-बजट में परिवर्तन होता है। वाष्पीकरण की कमी से आर्द्रता में भी कमी होती है।

हवा में लटकते धूलिकणों पर, संघनन अधिक होने से नगरीय क्षेत्रों में 5 से 10 प्रतिशत अधिक अवक्षेपण होता है तथा अधिक मात्रा में बादल तथा कोहरा रहता है। कोहरा जाड़ों में अधिक कष्टकर होता है। इससे वायुयानों का आवागमन भी बाधित होता है, ओले पड़ने की भी सम्भावना होती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नगरों में आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक बादल, अधिक गर्मी, अधिक वर्षा और कम आर्द्रता होती हैं। उत्तरी भारत के नगरों में ग्रीष्मकाल में 15 प्रतिशत कम धूप, 5 प्रतिशत कम पराबैंजनी किरणें और जाड़े में 30 प्रतिशत कम पराबैंजनी किरणें आती हैं। इनमें 10 प्रतिशत अधिक वर्षा, 20 प्रतिशत बादल, 25 प्रतिशत कम औसत वायुगति, 30 प्रतिशत से अधिक ग्रीष्मकालीन कोहरा और 100 प्रतिशत से अधिक शीतकालीन कोहरा होता है। औसत सापेक्ष आर्द्रता 6 प्रतिशत कम और औसत ताप में अन्तर 3 प्रतिशत से अधिक होता है।

प्रदूषण कानूनों के कड़ाई से लागू करने के फलस्वरूप विकसित देशों के नगरों में वायुप्रदूषण की मात्रा कम होती जा रही है। मोटर गाड़ियों में वृद्धि, कोयले आदि के जलने व प्रदूषण कानूनों में ढिलाई के फलस्वरूप भारतीय नगरों में वायुप्रदूषण अधिकाधिक होते जाने का अनुमान है। नागपुर के राष्ट्रीय पर्यावरण अनुसंधान संस्थान के अनुसार अहमदाबाद, बम्बई, कलकत्ता, कोचीन, दिल्ली, हैदराबाद, जयपुर, कानपुर, मद्रास, नागपुर आदि नगरों में वायुप्रदूषण में वृद्धि हुई है। कानपुर व बम्बई जैसे औद्योगिक नगरों की वायु अत्यन्त विषाक्त हो चली है। वायु में नाइट्रोजन एवं गन्धक के ऑक्साइडों की मात्रा में वृद्धि के कारण अम्लीय वर्षा का ख़तरा बढ़ता जा रहा है। भारतीय महानगरों की वायु में गन्धक के ऑक्साइडों की औसत मात्रा बहुत अधिक है। बम्बई महानगर में 1700 प्रदूषक प्रतिदिन वायु में आते हैं। इनमें से 55 प्रतिशत मोटरगाड़ियों से उत्सर्जित होते हैं। इनके कारण नगरवासियों को छाती के दर्द, खाँसी, आँखों की जलन आदि की शिकायत बढ़ रही है। तपेदिक, खाँसी, जुकाम, ब्रॉन्काइटिस, दमा आदि रोगों और वायुप्रदूषण में सीधा सम्बन्ध है।

वायुप्रदूषण

नगरवासियों को अनेक प्रकार के वायुप्रदूषकों का भी सामना करना पड़ता है। नगर के भीतरी भागों में बाहरी भागों की अपेक्षा अधिक वायुप्रदूषण होता है। कम आय वर्ग के लोग छोटे व घने मकानों व ऐसे स्थानों पर बसते हैं जहाँ वायुप्रदूषण अधिक होता है। उच्च आय वर्ग के लोग अपेक्षाकृत बड़े व खुले स्थानों पर बने मकानों में रहते हैं। यहाँ वायु और ध्वनिप्रदूषण की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। नई दिल्ली व पुरानी दिल्ली की बस्तियाँ इसका अच्छा उदाहरण हैं।

वायु प्रदूषण को रोकने के लिए योजनाबद्ध तरीके से कार्य करना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। हरित क्षेत्रों और प्राकृतिक संवहन पदों के बीच में अवरोध (ऊँचे मकान) लाभकर होते हैं। नगर के बीच में पार्क बनाकर हवा के तापमान को कम रखा जा सकता है। भारतीय नगरों में बढ़ते हुए गाड़ियों के धुएँ से होने वाले प्रदूषण पर रोक लगाने की आवश्यकता है।

जलप्रदूषण

नगरों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होने के कारण जल की खपत अधिक होती तथा अवजल की निकासी भी अधिक होती है। उचित अवजल-संशोधन-संयत्रों के अभाव में नगर का सम्पूर्ण अवजल इन्हीं प्राकृतिक जलस्रोतों में बहता है जहाँ से नगरवासियों के लिए पीने का जल आता है। इससे जल तो प्रदूषित होता ही है नगरवासी भी अनेक प्रकार की जलजन्य बीमारियों से ग्रस्त हो जाते हैं। भारत में उपलब्ध जल का 70 प्रतिशत प्रदूषित है। भारतीय नगरों से निकलने वाला अवजल औद्योगिक अवजल से लगभग चार गुना अधिक है। भारत के 3119 नगरों व कस्बों में से केवल 207 के पास आंशिक व 8 के पास पूर्ण अवजल प्रवाह व निस्तारण प्रणाली है। केवल 10 प्रतिशत उद्योगों के पास ही अपने अवजल को शोधित करने के संयन्त्र हैं। भारतीय जनसंख्या का 2/3 भाग प्रदूषित जल के उपभोग के कारण रोगग्रस्त रहता है। वर्षाजल प्रवाह प्रणाली और अवजल-संशोधन-संयन्त्र की समुचित व्यवस्था ही इस समस्या से छुटकारा दिला सकती है।

शहरी कूड़ा-कचरा

वायु एवं जल प्रदूषणों की अपेक्षा शहरी ठोस कूड़े-कचरे के उचित निस्तारण पर कम ध्यान दिया गया है। विकसित देशों में इस दिशा में विशेष ध्यान दिया गया है। वहाँ अर्द्धविकसित देशों के मुकाबले प्रति व्यक्ति अधिक ठोस कचरा जमा होता है। इन देशों में ठोस अवशिष्ट के उत्पादन, भण्डारण-एकत्रीकरण, वहन, संशोधन एवं निस्तारण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। विकासशील देशों में ठोस अवशिष्ट के प्रकार एवं संरचना-विभिन्नता के साथ-साथ नगरीकरण का ढाँचा भी अलग प्रकार का है। इन देशों के नगर मुख्यतया प्राचीन नगरों के बेतरतीबी से बढ़े रूप हैं। इसके फलस्वरूप ठोस कचरे के निस्तारण की आधुनिक विधियाँ अधिक प्रभावशाली नहीं हैं।

पर्यावरणीय दृष्टि से संतुलित नगर की योजना में नगर में निकलने वाले ठोस अवशिष्ट का समुचित आकलन आवश्यक है। जैसे-जैसे व्यापार एवं उद्योग में वृद्धि होती है, ठोस अवशिष्ट के उत्पादन में भी वृद्धि होती है। राष्ट्रीय पर्यावरणीय अनुसन्धान संस्थान के अनुसार बम्बई व कलकत्ते में 0.5 कि० ग्रा० अवशिष्ट प्रतिदिन प्रति व्यक्ति उत्पन्न होता है तथा अन्य नगरों में 0.15 से 0.35 कि० ग्रा० प्रतिदिन प्रति व्यक्ति है।

नगर में दुर्गन्ध एवं गन्दगी फैलाने के साथ-साथ यह कचरा नगरों के जल स्रोतों एवं वायु को भी प्रदूषित करता है। वर्षा ऋतु में अनुचित प्रकार के जमा किये हुए कचरों के ढेरों से निकलकर आने वाला जल घरेलू अवजल से 15 से 20 गुना ज्यादा प्रदूषित होता है।

ध्वनिप्रदूषण

नगरीकरण एवं औद्योगीकरण में वृद्धि के साथ-साथ शोर की मात्रा में भी दिनों-दिन वृद्धि होती जा रही है। वायुयानों का शोर, मोटरगाड़ियों के हार्न, रेलगाड़ियों की सीटियाँ, कारखाने की मशीनों की खटपट, निर्माण कार्यों में होने वाली तोड़-फोड़, बाजे-गाजे की उबाऊ धुनें और ट्रांजिस्टर पर ज़ोर से बजता फिल्मी संगीत कान को तीखे ही नहीं लगते, बल्कि स्वास्थ्य के लिए भी घातक हैं। नगरवासियों को उपरोक्त कारणों की वजह से विभिन्न स्तर के शोर का सामना करना पड़ता है।

तालिका

शोर की तीव्रता

सुनने की शुरुआत	0 डी बी
फुसफुसाहट	20 डी बी
एक मीटर की दूरी पर दीवाल घड़ी	30 डी बी
रात के समय शान्त बस्ती	50 डी बी
गलियों में शोरगुल	40-70 डी बी
सामान्य बातचीत	60 डी बी
शान्त बस्ती में हल्का वाहन	65 डी बी
उपनगरीय बाज़ार	75 डी बी
व्यस्त व्यापारिक बस्तियाँ	80 डी बी
स्पोर्ट्स कार	80-85 डी बी
कार हार्न	85-95 डी बी
खराद मशीन	85-95 डी बी
हवाई अड्डे के निकट की बस्ती	95 डी बी
आरा मशीन	100-110 डी बी
बिना साइलेंसर की मोटरसाइकिल	130 डी बी
सेट ब्लास्टिंग	118 डी बी
संवेदना आरम्भ	130 डी बी
पीड़ा आरम्भ	140 डी बी

अधिकांश राष्ट्रों ने ध्वनि की अधिकतम स्वीकार्य सीमा 75 से 85 डेसीबेल निर्धारित की है। इससे अधिक ध्वनियाँ हमारे श्रवण-यन्त्र पर बुरा असर डालती हैं। 75 डेसीबेल से अधिक की ध्वनि लगातार कानों में पड़ने से मनुष्य बहरा हो जाता है। इससे पीड़ा आरम्भ हो जाती है और शोर का दुष्प्रभाव शरीर पर स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। इससे कार्यक्षमता में भी कमी आती है, झुंझलाहट पैदा होती है, शारीरिक तनाव बढ़ता है। रक्त में कोलेस्टेरॉन तथा कॉर्टिज़ोन का स्तर बढ़ जाता है। इससे रोगों की सम्भावना बढ़ जाती है।

अपने देश के औद्योगिक नगर कलकत्ता, कानपुर, बम्बई, मद्रास, अहमदाबाद में ध्वनिप्रदूषण अधिक है। यद्यपि ध्वनिप्रदूषण नियन्त्रण के कई कानून बने हैं परन्तु उनका कड़ाई से पालन नहीं होता। वाराणसी, प्रयाग आदि धार्मिक नगरों में नागरिक लाउड-स्पीकर आदि की ध्वनियों से विशेष त्रस्त रहते हैं।

वन्यप्राणी व पौधे

सामान्यत: वन्यजीवों को नगरों से नहीं जोड़ा जाता है फिर भी नगर कई प्रकार के पौधों एवं पशु-पक्षियों के लिए कृत्रिम निवासस्थल का कार्य करते हैं। ये वन्यप्राणी व पौधे अपने भोजन, जल, खनिज पदार्थों आदि की आवश्यकता नगरों से ही पूरी करते हैं। कबूतर, गौरैया, कौवे आदि नगरों में अपने घोंसले उसी सुगमता से बनाते हैं जिस सुगमता से उसे वे प्राकृतिक निवासस्थलों में बनाते हैं। नगरों के पार्क एवं चिड़ियाघर अनेक दुर्लभ वृक्षों तथा वन्यप्राणियों को आश्रय देते हैं। जैसे-जैसे नगरों की संख्या में वृद्धि होती जाएगी अधिक से अधिक प्रकार के वन्यप्राणी इन संरक्षित पार्कों व चिड़िया-घरों आदि में स्थान पाते जाएँगे। नगरों में पेड़ों की अधिकता नगर के तापमान को कम रखने के साथ-साथ शोरगुल एवं वायुप्रदूषण के प्रभाव को भी कम करने में सहायक होती है।

नगरों में कुछ विशेष प्रकार के पौधे व प्राणी ही सामान्यत: पाए जाते हैं जो लगभग सभी नगरों में एक जैसे ही होते हैं। इनमें से कुछ तो नगर पर्यावरण के अनुरूप अपने को भलीभाँति ढाल कर अत्यन्त सुखी रहते हैं। काक्रोच (तिलचट्टा), चूहे आदि इस श्रेणी में आते हैं। इसमें से कई नगरों में महामारी आदि भी फैलाने का कार्य करते हैं।

योजनाबद्ध नगर निर्माण

नगरों के निर्माण के लिए योजनाएँ बनाने का कार्य प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। नगरों का निर्माण, सुरक्षा राजनैतिक केन्द्र, औद्योगिक केन्द्र आदि की तरह से किया गया है। इनमें से प्रत्येक उद्देश्य ने नगरों के स्वरूप को प्रभावित किया है। एक कुशल विकास योजना के अन्तर्गत नगरों में पार्कों, खुले स्थानों, मनोरंजन स्थलों आदि का समुचित समावेश किया जाता है ताकि नगरवासियों को कष्ट न हो। विकसित देशों में यह योजना और भी अधिक विचार कर बनाई जाती है। इनमें उपरोक्त बातों के अलावा पर्यावरणीय प्रभावों को भी ध्यान में रखा जाता है। इस प्रकार के समन्वित एवं योजनाबद्ध नगर विकास से नगरवासियों के दैनिक जीवन को अधिक से अधिक सुखकर व सुरक्षात्मक बनाने का प्रयास किया जाता है। योजनाबद्ध निर्माण एवं विकास का मुख्य उद्देश्य ही है पर्यावरणीय दुष्प्रभाव को रोकने का प्रयास करना। भूमि के कुछ उपयोग संचयी प्रभाव डालते हैं अत: हमें इन दुष्प्रभावों को कम से कम करने का प्रयास करना चाहिए। □□

पर्यावरणप्रदूषण एवं औद्योगीकरण

निरंजन प्रसाद शुक्ल

हमारा पर्यावरण प्रकृति या ईश्वर की देन है और जैसा इसे बनाया गया है वही मानव, जीव-जन्तु तथा पेड़-पौधों के लिये उपयुक्त है। पर्यावरण की भौतिक, रसायनिक अथवा जैविक रचना में परिवर्तन जाने या अनजाने में हो जाने पर इस पर निर्भर अथवा उपयोग करने वालों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। पर्यावरण में ऐसा परिवर्तन, जिससे मानव, जीव-जन्तु तथा पेड़-पौधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े वही प्रदूषण है। पर्यावरण का प्रदूषण केवल औद्योगीकरण या विज्ञान के बढ़ते चरण से हो रहा है ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वनों का नष्टीकरण, ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जनसंख्या का सतत प्रवाह, जनसंख्या में तीव्र वृद्धि आदि भी पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विभिन्न व्यवसायों द्वारा प्राकृतिक साधनों का प्रयोग करता है। व्यवसाय तीन वर्गों में बाँटें गये है, जैसे—

1. **प्राथमिक व्यवसाय**—आखेट, मत्स्य-ग्रहण, संग्रहण, पशुपालन, कृषि, खनन आदि।

2. **गौण व्यवसाय**—इनमें अन्य व्यवसायों से प्राप्त उत्पादों का संशोधन सम्मिलित है। जैसे गन्ने से चीनी बनाना, रुई से वस्त्र निर्माण, लोहे से इस्पात निर्माण, कोयला, प्राकृतिक गैस या नेफ्था से उर्वरक उत्पादन इत्यादि।

3. **तृतीयक व्यवसाय**—समाज की विभिन्न सेवाएँ, उदाहरणतः—शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, परिवहन, व्यापार, बैंक तथा प्रशासन आदि।

प्राथमिक व गौण व्यवसाय मुख्यतः प्राकृतिक सम्पदा पर निर्भर हैं। शताब्दियों से मनुष्य इन्हीं व्यवसायों में रत रहा तथा उसकी आवश्यकताएँ पूरी होती रहीं। ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति उन्नीसवीं शताब्दी में एकाएक ऐसे स्तर पर पहुँच गई कि बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण होने लगा। इस औद्योगीकरण ने बहुत से असम्भव कार्य पूर्ण कर दिये तथा उपलब्धियों से मानव का जीवन स्तर, सुख सुविधा बढ़ी एवं अन्य कई लाभ हुए। परन्तु औद्योगीकरण से मानव अपने में इतना लीन हो गया कि उसे औरों की तो क्या अपनी भी सुध न रही। प्राकृतिक सम्पदा उपयोग के स्थान पर नष्ट होने लगी व प्रकृति की क्षमता से अधिक सम्पदा का मनुष्य उपभोग करने लगा तथा इस दौड़-भाग में ब परिवर्तन होने लगे जिसे प्रकृति स्वयं संशोधन या पूर्ण करने में अक्षम है। अतः मनु विकल्प है पर्यावरण प्रदूषण नियंत्रण अथवा स्वयं का विनाश। आज मानव की गतिवि से वायुमंडल, जलमंडल तथा भूमंडल सभी स्थान-स्थान पर प्रदूषित पाए जाने लगे है

पर्यावरण प्रदूषण के परिणाम

इंग्लैण्ड में थेम्स नदी का ऐसा प्रदूषण हुआ जिससे वह गंदे नाले से भी अधिक गंदी पाई गयी। वहीं फिलिक्सबोरो (1974) में पचास टन साइक्लोहेक्सेन वाष्प उड़ने से लगभग 30 लोग मरे व कई सौ घायल हुए।

सोवियत संघ में 'चेरनोबिल दुर्घटना' (1986) जिसमें परमाणु बिजलीघर के एक रिएक्टर के फटने से लगभग 250 व्यक्ति मरे तथा घायलों की संख्या अब तक अज्ञात है। सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका एवं कई अन्य देशों की एक बड़ी समस्या है कि वे रेडियोधर्मी कूड़े का ढेर कहाँ ले जायें? यदि उसे यों ही रख दिया गया तो शताब्दियों तक दुष्परिणाम कौन भोगे? अन्यथा क्या करें?

जापान में शहरों की बढ़ती जनसंख्या, औद्योगीकरण व प्रदूषण ने वहाँ की मौलिकता व जीवन ही भंग कर दिया है। मिनिमाता झील के पारे के यौगिक (मरकरी कम्पाउन्ड्स) द्वारा मछलियों, पेड़-पौधों, वहाँ के मनुष्यों तथा नवजात शिशुओं की विकलांगता व बुद्धि का असंपूर्ण विकास एक कहानी नहीं बल्कि पर्यावरण प्रदूषण के प्रकोप का ही परिणाम है।

भारत इन देशों की औद्योगिक स्तर पर समानता इस समय तो नहीं कर सकता परन्तु कई क्षेत्रों में इसका विकास व औद्योगीकरण अन्य विकासशील देशों की अपेक्षा कहीं अधिक है। छुटपुट घटनाएँ तो हुआ ही करती हैं परन्तु 'भोपाल गैस त्रासदी' (1984) में मिक गैस की अत्यधिक मात्रा में रिसाव होने से अनुमानित 2500 मौतें व कई लाख लोगों के कष्ट आज तीन वर्षों के बाद भी चल रहे हैं। शहरों में जल, थल एवं वायु प्रदूषण अब किसी को बताने की आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं विदित हैं। गंगा जैसी पवित्र नदी का पानी जो अमृत समझा जाता रहा है, अब कई स्थानों में पीने योग्य भी नहीं रहा व किन्ही-किन्ही स्थानों पर तो बड़ा गंदा नाला ही लगता है।

औद्योगीकरण की क्षेत्रीय असमानताएँ

किसी विशेष क्षेत्र में उद्योग एवं जनसंख्या के जमाव बढ़ जाने पर वहाँ पर्यावरण प्रदूषण की समस्याएँ भी बढ़ जाती हैं। एक तो वे जो कि उद्योगों द्वारा हो रही हैं और दूसरी जनसंख्या के घनत्व के कारण हैं। अपने देश में कलकत्ता, बम्बई, तथा कानपुर ऐसे ही उदाहरण हैं। इसके दो उपाय हैं—पहला औद्योगिक प्रदूषण कम किया जाय व दूसरा नए उद्योगों को, जिनसे प्रदूषण की सम्भावना हो, अन्यत्र लगाया जाय। इससे जनसंख्या का एक ही स्थान पर केन्द्रित होना भी स्वयं ही घट जायेगा।

औद्योगिक उत्सर्ज (निस्सारी) समिश्रण

प्रत्येक उद्योग के उत्सर्ज की अपनी ही विशेषता होती है। इन्हीं विशेष गुणों का तकनीकी लाभ उठाया जा सकता है।

उदाहरणतः डिस्टिलरी उत्सर्ज का पी० एच० 4-4.5 व बी० ओ० डी० करीब 80,000 व प्रकृति अम्लीय है जबकि कपड़ा अथवा जूट उद्योग का उत्सर्ज क्षारीय, पी० एच०

7-10 व बी० ओ० डी० 500 है। अत: ऐसे उद्योग एक ही क्षेत्र में हों तो इन्हें मिलाने से स्वत: प्रदूषण नियंत्रित होने की या कम लागत/व्यय में नियंत्रण की सम्भावना है। इसी प्रकार डिस्टिलरी उत्सर्ज को कागज मिल, चमड़ा उद्योग आदि के उत्सर्ज से मिलाना लाभप्रद होगा।

कम प्रदूषण की तकनीक

हर उद्योग की अपनी ही तकनीक है पर इसमें भी समय-समय पर परिवर्तन किया जाता रहता है। अत: ऐसी तकनीक का उपयोग किया जाय अथवा पता लगाया जाय जिससे कम से कम पर्यावरण प्रदूषण होने की सम्भावना हो।

रसायन प्रक्रिया परिवर्तन

कुछ धातुएँ जैसे क्रोमियम, पारा, सीसा व इनके यौगिक (कम्पाउन्ड) तथा कुछ घोलक पेट्रोलियम पदार्थ; फीनॉल, बेन्ज़ीन इत्यादि अधिक प्रदूषण,—वायु, जल व थल में अलग-अलग प्रकार की बीमारियाँ या कष्ट पैदा करते हैं। अत: ऐसे रसायनों का कम प्रयोग हो तथा नवीन प्रक्रियाएँ विकसित की जाएँ जिनके उत्सर्ज विषैले न हों।

रसायन परिचक्र (वेस्ट रीसाइकिल)

प्राकृतिक संपदा एवं ऊर्जा के स्रोत जो कि सहस्त्रों वर्षों से उपयोगी रहे व आज भी हैं, उनका दोहन यदि अधिक हुआ तो वे अधिक समय तक नहीं रहेंगे। उदाहरणत: कोयले का भारतीय भण्डार ऐसा अनुमानित है कि यदि वर्तमान दर से निकाला जाता रहा तो 20-30 वर्षों तक ही चल पायेगा। लकड़ी की पूर्ति पेड़ों को काटकर की जाती है। यदि पेड़ को काटने में एक दिन लगता है तो उसे विकसित होने में वर्षों का समय लग जाता है। अत: जगलों का विनाश, जंगली जानवरों का विनाश एवं लकड़ी की कमी तो बढ़ती ही जायेगी।

परिचक्र जहाँ एक ओर प्राकृतिक संपदा को नष्ट करेगी वहीं दूसरी ओर धातुओं को उत्सर्जित होने से कम करेगी। अत: पर्यावरणप्रदूषण निवेश (इनपुट) तथा निर्गम (आउटपुट) दोनों कारणों से कम होता रहेगा।

सारणी
औद्योगिक मलबा एवं विशेषताएँ

उद्योग	विशेषताएँ
1—सूती कपड़ा	क्षारीय, रंगीन, अधिक बी० ओ० डी०, तापक्रम व ठोस पदार्थ
2—चमड़ा	ठोस पदार्थ, अधिक बी० ओ० डी०, क्षारीय, भारीपन, लवण, सल्फ़ाइड, क्रोमियम, दुर्गंध
3—शर्करा	घुलनशील व अघुलित ठोस पदार्थ, कार्बनिक, दुर्गन्ध

4—कागज़	रंगीन, कोलाइड्स, घुलित पदार्थ, क्षारीय तथा अम्लीय कार्बनिक पदार्थ, दुर्गंध
5—इस्पात	अम्लीय, फ़ीनॉल, कोक, चूना, महीन ठोस, अयस्क
6—जल शोधन	लवण व ठोस पदार्थ।
7—प्लास्टिक	घुलनशील, कार्बनिक पदार्थ, फ़ीनॉल, फ़ार्मेल्डिहाइड, अम्ल व क्षार, दुर्गंध
8—भाप (स्टीम)	ऊँचा ताप, अकार्बनिक व घुलित ठोस पदार्थ
9—रबड़	अधिक बी० ओ० डी०, दुर्गंध, ठोस पदार्थ, क्लोराइड, बदलता पी० एच०
10—काँच (ग्लास)	जाज रंग, क्षारीय, लटके हुये ठोस (ससपेन्डेड सॉलिड)
11—टीन (कनस्तर)	धातु, तैलीय, बदलता पी० एच०, घुलित पदार्थ, लटके हुये ठोस (ससपेन्डेड सॉलिड)
12—तेल शोधन (रिफ़ाइनरीज)	घुलित लवण, अधिक बी० ओ० डी०, दुर्गंध, फ़ीनॉल गंधक के यौगिक (कम्पाउन्ड)
13—प्लाइवुड एवं लकड़ी	अधिक बी० ओ० डी०, अम्लीय, फ़ीनॉल, विषैले (टॉक्सिक) पदार्थ
14—नाभिकीय ऊर्जा (न्युक्लियर एनर्जी)	रेडियोधर्मी पदार्थ, ऊँचा ताप, अम्लीय
15—शोधक (डिटरजेन्ट)	अधिक बी० ओ० डी०, क्षारीय, अम्लीय, ठोस पदार्थ

निष्कर्ष

1—अनुमानित स्थानों पर सामयिक प्रदूषण की माप-जोख।

2—प्राकृतिक शुद्धिकरण या उसकी कमी।

3—सारणी कुछ मुख्य उद्योगों के प्रदूषण की विशेषताएँ देती है। अतः इनकी संख्यात्मक तथा गुणात्मक नाप-जोख।

4—नये उद्योगों का क्षेत्रीयकरण।

5—प्रदूषण नियंत्रण के सरल एवं सस्ते उपाय।

6—पदार्थ पुनरावृत्ति की सम्भावनाएँ।

7—कम प्रदूषण वाली तकनीक का उपयोग तथा विकास।

8—ऐसे पदार्थ एवं तकनीक का प्रयोग जिससे प्रदूषण में कमी लायी जा सके।

9—क्षेत्रों के अनुसार उद्योगों का भविष्य में आना।

10—प्रत्येक उद्योग व क्षेत्र की प्रदूषण क्षमता का सम्पूर्ण अध्ययन, जिसमें मनुष्य, जानवर तथा वनस्पति पर प्रभाव की जानकारी आवश्यक है।

□□

वायु-प्रदूषण का स्वास्थ्य पर प्रभाव

डॉ० एच० सी० शर्मा
डॉ० ए० एल० अग्रवाल
राधेश्याम शर्मा

लन्दन, 5 दिसम्बर 1950 की शाम। हमेशा की तरह दफ़्तर के कर्मचारी, फ़ैक्ट्रियों और कारखानों के मजदूर, विद्यार्थी, स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े अपने-अपने घर पहुँचने की जल्दी में सड़कों पर दौड़े चले जा रहे थे। लेकिन आज वातावरण में कुछ अजीब सी घुटन, बेचैनी महसूस हो रही थी। अचानक कुहासे के कारण अँधेरा छा गया। धूम-कोहरे के विशालकाय काले-काले यमदूत से दीखते बादल धरती पर उतरने लगे। सड़कों की रोशनी फीकी पड़ने लगी, मोटर-गाड़ियों की बत्तियाँ टिमटिमाते दियों की तरह धीमी गति से रेंगती नजर आ रही थीं। किसी को कुछ दीख नहीं रहा था, सूझ नहीं रहा था, आँखों में जलन, खाँसी, दम घुटने जैसी हालत और गले में खराश के कारण अजीब हालत हो गई थी। चार-पाँच दिन तक शहर में ऐसी ही गम्भीर स्थिति बनी रही और लगभग 4000 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। आस-पास की फैक्ट्रियों की चिमनियों से निकलने वाली विषैली गैसें सर्दी के शांत वातावरण के कारण उसी क्षेत्र में जमा होती गईं जिससे इतने ज्यादा अनजान और बेकसूर लोगों की जानें गईं। वायु-प्रदूषण की इतनी बड़ी शायद यह पहली दुर्घटना थी।

लेकिन जन-साधारण की याददाश्त कमजोर होती है। समय के साथ-साथ ऐसी दुर्घटनाओं को लोग भूल जाते हैं। लगभग 34 वर्षों के बाद 2 दिसम्बर की रात को भारत में विषैली गैस रिसने की भीषण दुर्घटना वायु-प्रदूषण के इतिहास का काला पन्ना बन गयी। भोपाल की एक रासायनिक फ़ैक्ट्री से गैस के रिसने से लगभग 2000 लोगों की जानें गईं और लगभग 70,000 लोगों पर उसका असर पड़ा। गैस के काले-काले बादलों ने मीलों तक किसी को नहीं बख्शा। सारा शहर एक श्मशान दिखाई देने लगा। 2 दिसम्बर की वह रात भोपाल और आस-पास के क्षेत्रों के लिए कालरात्रि बन गई। पूरे के पूरे परिवार अकाल ही काल के गाल में पहुँच गये। जो जहाँ था जिस हालत में था सुबह को वैसा ही जड़वत पाया गया। मुर्दों को जलाने और गाड़ने के लिए दो गज जमीन तक न मिली। शहर का हरेक भवन, स्कूल, मैदान, अस्पताल में बदल गया। मनुष्य ही नहीं जगह-जगह मृत पशुओं के कंकाल भी पड़े थे। लाशें सड़ रहीं थीं। जो किसी प्रकार जिन्दा बच गये, अब तक अनेक रोगों के शिकार होकर असहाय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। दुर्घटना के दो साल बाद भी हजारों लोग विषैली गैस के कुप्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं। डॉक्टरों का कहना है कि इसका असर आगे आने वाली पीढ़ियों पर भी पड़ेगा। चारों

तरफ चीख-पुकार भरा बड़ा ही वीभत्स दृश्य था और परिणाम अति भयंकर, जिसका शब्दों में वर्णन असम्भव है।

थोड़े ही दिनों बाद दिल्ली की एक फैक्ट्री से गंधक के अम्ल और नागदा (मध्य प्रदेश) से क्लोरीन गैस के रिसने की दुर्घटनाओं के समाचार मिले। बम्बई में चेंबूर का औद्योगिक क्षेत्र ज़हरीली गैसों के कारण "गैस चैम्बर" के नाम से जाना जाने लगा। इस प्रकार बड़े-बड़े उद्योगों की चिमनियाँ जन-जीवन को ग्रस रही हैं।

इन कुछ घटनाओं से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि वायुप्रदूषण स्वास्थ्य के लिए किस कदर ख़तरनाक साबित हो सकता है।

अन्धाधुंध औद्योगीकरण

रोज़मर्रा काम में आने वाली चीज़ों की बढ़ती माँग पूरी करने के लिए बिना सोचे-समझे कारखाने और फैक्ट्रियाँ खोली जाने लगीं। इससे देश का बेतरतीब औद्योगिक विकास तो हुआ लेकिन इन फैक्ट्रियों और कारखानों से निकलने वाली गैसों, धूलिकण और छोटे-छोटे दूसरे ठोस पदार्थों के कारण वातावरण अधिक दूषित होने लगा। आखिर वायुमण्डल कितने विष को पी सकता है? उसकी अपनी सीमा है। कई बार बहुत सी जगह वायुप्रदूषण बढ़ने से ज़हरीली गैसों के धरती के पास ही जमा होने के कारण एक परत सी बन जाती है जिससे बीमारियाँ और मृत्यु दर काफी बढ़ जाती है।

वायुप्रदूषण के स्रोत

वायु प्रदूषण मुख्यत: फैक्ट्रियों और कारखानों से निकलने वाली गैसों और छोटे-छोटे ठोस कण (निलम्बित-कणिकीय-ठोस पदार्थ), जो वायुमण्डल में तैरते रहते हैं, ताप-विद्युतघरों, मोटर-गाड़ियों के धुएँ और घरों में ईंधन के रूप में जलाये जाने वाले कोयले, लकड़ी, गोबर और पौधों के सूखे डंठलों आदि के जलाने से होता है।

भारत में हर साल इन स्रोतों से कुल मिलाकर 990 लाख टन प्रदूषणकारी तत्त्व वायुमण्डल में छोड़े जाते हैं। उद्योगों से निकलने वाली हानिकारक गैसों और अन्य पदार्थों को वायुमण्डल में न जाने देने के लिए रोक-थाम के पर्याप्त उपाय न किये जाने के कारण औद्योगिक प्रदूषण होता है। मोटर-गाड़ियों, स्कूटर, कार और ट्रकों आदि के इंजिन पुराने होने, उनकी अच्छी तरह देख-भाल और मरम्मत न करने तथा घटिया किस्म का ईंधन इस्तेमाल करने से वायुप्रदूषण होता है। कुल प्रदूषण का एक तिहाई भाग तो रसोईघरों में पैदा होता है, जहाँ गृहणियाँ दिन भर काम में जुटी रहती हैं। अधिकतर रसोईघरों में धुआँ निकलने और ताज़ा हवा अन्दर आने के लिए रोशनदान तक नहीं होते। ऐसे वातावरण का महिलाओं के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। सड़कों के किनारे बसने वाले लोग मोटर-गाड़ियों के धुएँ के कारण अनेक रोगों के शिकार हो जाते हैं।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

वायुप्रदूषण से शरीर की क्रियाएँ प्रभावित होती हैं, जिसका स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध होता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और समुदायों पर उनकी प्रतिरोधी शक्ति, प्रदूषण की मात्रा

और अवधि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। कुछ लोगों को वायुप्रदूषण के कारण साधारण सी बेचैनी हो जाती है, कुछ को रोग के लक्षण दीखने लगते हैं, लेकिन कुछ समय से पहले ही बिल्कुल बेकार हो जाते हैं। यहाँ तक कि कुछ मामलों में मौत तक हो सकती है।

स्वास्थ्य पर वायुप्रदूषण का प्रभाव जानने के लिए मौसम विज्ञान के अध्ययन के साथ-साथ यह भी जानना जरूरी है कि प्रदूषण किस प्रकार का है, उसका स्तर क्या है, और कितने समय तक क्षेत्र विशेष उससे प्रभावित रहा है। अगर वायुप्रदूषण बहुत अधिक है तो उसका प्रभाव अधिक संवेदनशील वर्ग—बच्चों और बूढ़ों में बढ़ती बीमारियों और मृत्युदर में वृद्धिसे तुरन्त पता चल जाता है। इसके अलावा वायुमण्डल किस सीमा तक प्रदूषकों को समा सकता है और किसी विषैले तत्व विशेष का प्रतिरोध करने की क्षमता का भी स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।

थोड़े से समय के लिए भी वायुमण्डल में जहरीली गैसों और दूसरे तत्वों की बहुत अधिक मात्रा के घातक परिणाम हो सकते हैं। लेकिन जनसाधारण को आमतौर पर प्रदूषण की मात्रा कम होते हुए भी ज्यादा लम्बे समय तक प्रभावित रहने के कारण वायु-प्रदूषण जनित समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

वायुप्रदूषण का शरीर पर दो प्रकार से असर होता है—

1. जब प्रदूषणकारी तत्व साँस के द्वारा शरीर में पहुँचते हैं।

2. आँख आदि की श्लेष्मा (म्युकस) झिल्ली के अप्रत्यक्ष रूप से सम्पर्क में आते हैं या उस पर जमा हो जाते हैं।

अधिकांश प्रदूषक गैसों के कारण सांस की बीमारियाँ होती हैं या रक्त द्वारा ऑक्सीजन पहुँचाने की क्रिया में बाधा पड़ती है। (कार्बन मोनो-ऑक्साइड के कारण ऐसा होता है) जबकि धूल और दूसरे कणिकीय पदार्थ चर्मरोग और फेफड़ों की बीमारियों के लिए ज़िम्मेदार होते हैं। फ़्लोराइड, अप्रत्यक्ष रूप से कीटनाशक दवाइयों आदि से संदूषित चीजें खाने और दूषित पानी पीने से भी वायु प्रदूषण का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार सामान्य रूप से वायुप्रदूषण का स्वास्थ्य पर दो तरह का असर होता है। एक, कम मात्रा लेकिन लम्बे समय तक दूषित वातावरण में रहने के कारण और दूसरा अधिक मात्रा, लेकिन अल्पकालीन प्रभाव से। वायुप्रदूषण के कारण हुई बीमारियों की जानकारी प्रयोगशाला में और समुदाय के विभिन्न वर्गों और स्तरों का लम्बे समय तक महामारी-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन से हो सकती है। प्रयोगशाला में पशुओं पर वायुप्रदूषण का प्रभाव देखकर अनुमान लगाया जाता है। जलवायु, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विविधता, सफाई सुविधाएं और व्यक्तिगत स्वच्छता, पोषण स्तर और व्यवसायों की विभिन्नता भी वायु-प्रदूषण का स्वास्थ्य पर प्रभाव जानने के लिए महत्वपूर्ण कारक हैं।

प्रमुख वायुप्रदूषक

वायुमण्डल में सल्फरडाइऑक्साइड, कार्बनमोनोऑक्साइड, नाइट्रोजन के ऑक्साइड, ओज़ोन, सीसा और निलम्बित-कणिकीय-पदार्थ (हवा में तैरने वाले छोटे-छोटे

ठोस कण और धूल आदि) के कारण प्रदूषण होता है। भारत में इन सभी कारकों के विषय में पर्याप्त और विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं होने के कारण केवल सल्फ़रडाइ-ऑक्साइड और निलम्बित-कणिकीय-पदार्थों की ही इस लेख में चर्चा की गई है। कोयला, तेल और लकड़ी आदि ऊर्जा के पारम्परिक स्रोतों में विद्यमान "सल्फर" यौगिक के जलने से ही इन दोनों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म ठोस कणों पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि इनका प्रभाव, न केवल वायुमण्डल में इनकी मात्रा, बल्कि रासायनिक संरचना, रूप और आकार पर भी निर्भर करता है। इसके अलावा औद्योगिक इकाइयों से भी विभिन्न प्रकार के ठोस कण वायुमण्डल में छोड़े जाते हैं। उत्तर भारत के रेगिस्तानी क्षेत्रों से भी आँधी-तूफ़ान के साथ भारी मात्रा में धूलकण दूर-दूर तक पहुँचते हैं।

अमेरिका और यूरोप में किए गए महामारी-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययनों से पता चलता है कि 24 घंटे तक सल्फ़रडाइऑक्साइड और निलंबित कणिकीय पदार्थों की मात्रा बहुत अधिक होने के कारण अस्पतालों में मरीजों की भर्ती बढ़ जाती है और मृत्यु दर में भी वृद्धि हो जाती है। हृदय और साँस के रोगी सबसे अधिक प्रभावित होते हैं।

भारत में अध्ययन

भारत में अहमदाबाद और बम्बई में ऐसे अध्ययन किए गए। दोनों ही अध्ययनों में सल्फ़रडाइऑक्साइड के स्तर के अनुसार नगर को औद्योगिक, व्यापारिक और आवासीय क्षेत्रों में बाँटा गया और नियंत्रित ग्रामीण क्षेत्र से तुलना की गई। जनगणना के रिकार्ड के आधार पर एक जैसे वर्गों को अध्ययन के लिए चुना गया और तीन साल तक नियमित रूप से निलंबित-कणिकीय-पदार्थ, सल्फ़रडाइऑक्साइड और नाइट्रोजनडाइ-ऑक्साइड सम्बंधी आँकड़े इकट्ठा किए गए और उनका स्वास्थ्य पर प्रभाव जानने का प्रयत्न किया गया। अध्ययन के दौरान दोनों ही शहरों में आमतौर पर निलंबित कणिकीय पदार्थों की अत्यधिक मात्रा की तुलना में सल्फ़रडाइऑक्साइड की मात्रा कम पाई गई। भारत के अन्य शहरों में भी ऐसी ही स्थिति पाई गई। ठोस कण बहुत अधिक होने से प्रदूषक गैसों के प्रभाव में वृद्धि होने की संभावना रहती है या इन कणों के कारण वायुमंडल में सल्फ़ेट जैसे अन्य कणिकीय पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया और तेज हो सकती है। सल्फ़ेट, अकेली सल्फ़रडाइऑक्साइड से कहीं अधिक हानिकारक होते हैं, लेकिन भारतीय परिस्थितियों में इस विषय की अभी पूरी जानकारी नहीं है। भारतीय परिस्थितियों में निलंबित-कणिकीय-पदार्थों का विशेष महत्व है क्योंकि जैसा पहले बताया गया है वायुमंडल में न केवल इनकी मात्रा बल्कि इनके भौतिक और रासायनिक गुणों के आधार पर भी वायु-प्रदूषण का स्वास्थ्य पर प्रभाव निर्भर करता है।

वायुमंडल में गैसीय और कणिकीय प्रदूषकों को अलग करना संभव नहीं क्योंकि यह दोनों हमेशा एक साथ पाए जाते हैं। अभी भी बहुत से प्रश्न अनुत्तरित हैं जिनके लिए गहन अध्ययन एवं अनुसंधान की आवश्यकता है।

□□

धूम-कोहरा : मौत की आहट

दीपा श्रीवास्तव

सभ्यता के विकास के साथ-साथ विश्व भर में उद्योगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है जिससे हमारे जीवन का स्तर उन्नत हो रहा है परन्तु बढ़ते औद्योगीकरण के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में प्रदूषण के नये आयाम भी सामने आ रहे हैं। इस प्रदूषण ने वायु, जल आदि किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा। उद्योगों द्वारा सब से अधिक वायु प्रभावित होती है। इसके प्रभाव ने हमें किस सीमा तक अभिशप्त किया है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

आत्मघाती औद्योगिक विकास के दुष्परिणामों को जानने के बावजूद विकसित देशों में भी इसके प्रति सजगता का अभाव पाया जाता है। आज भी उद्योग उसी मात्रा में बल्कि उससे अधिक धुआँ उगल रहे हैं। यह धुआँ निरन्तर वातावरण में समाता जाता है और कोहरे के साथ मिल कर भयंकर दुर्घटनाओं को जन्म देता है। दूसरे इन दुर्घटनाओं के समय ताप का व्युत्क्रमण (थर्मल इन्वर्शन) हो जाता है।

धूम-कोहरे (स्मॉग) का कारण

हम यह जानते हैं कि गर्म होने पर वायु उठती है। ऊँचाई पर वायु का दाब कम हो जाता है। अतः गर्म प्रदूषित वायु वहाँ फैलकर ठंडी हो जाती है। जब गर्म प्रदूषित वायु ऊपर उठती है तो अपने साथ पृथ्वी की सतह से गन्दी गैसें, धूल के कण आदि भी ऊपर उठा ले जाती है।

कभी-कभी गर्म वायु का पुञ्ज शीतल वायु के क्षेत्र में पहुँच जाता है और गर्म वायु का पुञ्ज हल्का होने के कारण, शीतल वायु से जो भारी होती है, ऊपर उठ जाता है। सामान्य स्थिति के प्रतिकूल पायी जाने वाली यह स्थिति व्युत्क्रमण (इन्वर्शन) कहलाती है। यह स्थिति अत्यधिक स्थायी होती है और लगातार कई दिनों तक बनी रहती है। अतः दूषित पदार्थों से भरा गर्म वायुपुञ्ज जब धरती के निकट की ठंडी वायु सतह में से होकर ऊपर उठता है और ऊपर की गर्म वायु से जा कर मिलता है तो वह समीपवर्ती पर्यावरण से हल्का नहीं रह जाता। यह दो शीतल वायु सतहों के बीच फँस जाता है और जैसे-जैसे ठंडा होता है अपने बीच का कूड़ा-करकट लेकर धरती की ओर गिरता है।

ताप-व्युत्क्रमण की स्थिति में हवा का बहना बन्द हो जाता है या बहुत कम हो जाता है, जिसके कारण धूम-कोहरा (स्मॉग) बह कर छँट नहीं पाता।

मोटर गाड़ियों के इन्जनों में जब अपूर्ण दहन होता है तो अनेक धूम-पाइपों (एग्जास्ट पाइपों) में से केवल हाइड्रोकार्बन ही नहीं अपितु नाइट्रोजन के ऑक्साइड भी निकल कर वायु में प्रविष्ट हो जाते हैं। विविध हाइड्रोकार्बन सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में नाइट्रोजन के ऑक्साइडों और वायु में उपस्थित ऑक्सीकारकों जैसे ओज़ोन, हाइड्रोजन परॉक्साइड, कार्बनिक परॉक्साइड (ROOR), कार्बनिक हाइड्रो परॉक्साइड (ROOH) तथा परॉक्सी एसिल नाइट्रेट से संयुक्त होकर विचित्र गैसों को बनाती हैं। इस प्रकार के धूम-कोहरे (स्मॉग) को प्रकाश-रासायनिक स्मॉग (Photo·chemical smog) कहते हैं क्योंकि इसमें प्रयुक्त रासायनिक अभिक्रिया में प्रकाश का होना आवश्यक है। प्रकाश-रासायनिक स्मॉग में सबसे अधिक हानिकारक कार्बनिक ऑक्सीकारक है परॉक्सी एसिल नाइट्रेट (PAN)।

स्मॉग के कुप्रभाव

स्मॉग में पायी जाने वाली गैसों में प्रमुख है—सल्फर डाइ-ऑक्साइड, जो मानव के लिये अत्यन्त हानिकारक है। इसके द्वारा मनुष्य के फेफड़े व श्वसन-तन्त्र प्रभावित हो जाते हैं। श्वसन-तन्त्र के मुख्य भागों में अस्तर रूप में लगी बालों के समान रचनाओं में अर्थात् रोमकों (Cilia) की प्रक्रिया को यह मन्द कर देती है। यह आँखों व त्वचा के लिये भी अत्यधिक क्षोभकारी होती है। इसके द्वारा दाँतों के इनामिल भी प्रभावित हो जाते हैं। सबसे भयंकर बात यह है कि इस गैस का दुष्प्रभाव स्थायी होता है जिसे सुधारा नहीं जा सकता। यही सल्फर डाइ-ऑक्साइड गैस लन्दन, डोनोरा व म्यूज़ घाटी में असंख्य मौतों का कारण बनी थी।

अमेरिका के 'नैशविल' नगर के डॉक्टरों के कथनानुसार वायु में सल्फर डाइ-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाने पर दमे के दौरे भी बढ़ जाते हैं। इस गैस के कारण असाध्य (क्रानिक) जुकाम, वास्तस्फीति (एम्फाइसोमा), उत्तान श्वसन और थकान की शिकायतें भी हो जाती हैं। कुछ डॉक्टरों के अनुसार इस गैस से हृदयरोग व रक्त की कमी (एनीमिया) भी हो जाती है।

सल्फर डाइ-ऑक्साइड का पौधों पर प्रभाव

सल्फर डाइ-ऑसाइड व सल्फ्यूरिक अम्ल से पौधों को भी हानि पहुँचती है। अमेरिका में टेनेसी नदी घाटी योजना के एक बिजलीघर से इतना सल्फर डाइ-ऑक्साइड निकलता है कि उसके निकट स्थित 'किंग्स्टन' नगर के आस-पास 40 मील व्यास के क्षेत्र में 90 प्रतिशत श्वेत चीड़ (pine) वृक्ष नष्ट हो गये। कोई 60 पूर्व वर्ष 'टेनेसी' स्थित 'डक टाउन' नगर में ताँबा गलाने के दो प्रगालक थे जिनमें से निकलने वाली सल्फर डाइ-ऑक्साइड की प्रचुरता ने वहाँ की ज़मीन को इतना विषाक्त कर दिया कि कि आज भी वहाँ हरियाली नाममात्र को दृष्टिगोचर होती है।

अमेरिका के 'न्यूजर्सी' राज्य के 'कोर्टरेट' नगर में एक ताँबा संशोधन कारखाना था जिससे कई वर्ष तक सल्फर डाइ-ऑक्साइड का धुँआ निसर्जित होता रहा। इसके परिणामस्वरूप वहाँ किसी भी घर में चीड़ के वृक्ष नहीं पनप पाये।

सल्फर डाइ-ऑक्साइड के अन्य प्रभाव

सल्फर डाइ-ऑक्साइड तथा सल्फ्यूरिक अम्ल से केवल जीवित वस्तुयें ही क्षतिग्रस्त नहीं होतीं। वायु में उपस्थित होने पर ये पदार्थ धातुओं, पेन्ट, पालिश, पत्थर का भी संक्षरण कर डालते हैं। वायु में उपस्थित गन्धक के अम्ल (सल्फ्यूरिक एसिड) से नाइलोन के मोज़े तो लगभग पूरी तरह गल जाते हैं।

अमेरिका के सभी नगरों की तुलना में न्यूयार्क में सल्फर डाइ-ऑक्साइड की सान्द्रता सबसे अधिक पायी जाती है। अतः यहाँ संक्षरण की समस्या भी अपने उग्रतम रूप में दिखायी देती है। वहाँ का एक प्रसिद्ध अस्पताल है 'सेन्ट ल्यूकस' जिस पर संक्षरण का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ा है। इस अस्पताल का गुम्बद संगमरमर व टेराकोटा का बना हुआ था और वर्षों से सल्फर डाइ-ऑक्साइड इस पर अपना दुष्प्रभाव छोड़ता रहा है। इसके परिणामस्वरूप संगमरमर इतना कमज़ोर हो गया कि उंगलियों से मसलने पर ही चूर हो जाता था। अन्ततः इस गुम्बद को बदलना पड़ा और अब उसकी जगह एक सपाट छत बना दी गयी है।

यूनान (ग्रीस) की राजधानी 'एथेन्स' में कारखानों से निकला धुँआ स्मॉग में परिवर्तित होकर 'एक्रोपोलिस' और 'पार्थीनोन' जैसे ऐतिहासिक स्थलों के पास पहुँचता है। इन स्थानों के भवन इत्यादि दो हज़ार वर्ष बीत जाने पर भी अब तक सुरक्षित व अपरिवर्तित रहे। इसका प्रमाण सन् 1802 में ली गई वहाँ की कुछ मूर्तियों की प्लास्टर-छाप से मिलता है। सन् 1965 में इन प्लास्टर-छापों की तुलना उन मूर्तियों की वर्तमान अवस्था से की गयी। वायु में उपस्थित स्मॉग के कारण हुये संक्षरण प्रभावों के कारण अब इन प्राचीन कला धरोहरों में से कुछ तो इतनी बिगड़ चुकी हैं कि पहचानी भी नहीं जा सकतीं।

इसी प्रकार पेरिस में प्रसिद्ध 'ओपरा' के सामने स्थित विख्यात मूर्तिकार **कार्बो** द्वारा निर्मित 'ला दांसे' नामक मूर्ति-समूह विषाक्त कुहासे के कारण इतना विकृत हो गया कि फलस्वरूप उसे बदलना पड़ा।

इटली भी स्मॉग के प्रकोप से अछूता नहीं बचा। यहाँ का प्राचीन नगर 'पादुआ' किसी ज़माने में विज्ञान और कला का केन्द्र माना जाता था। चौदहवीं शती में **गिओटी** नामक प्रसिद्ध चित्रकार ने वहाँ कुछ सुन्दर भित्तिचित्र बनाये थे। परन्तु स्मॉग से दूषित वायु के कारण वे झड़-झड़ कर नष्ट हो गये। इसी प्रकार वहाँ के 'फ्लोरेन्स' नगर 'पांटी वेकिओ', 'सिटी पैलेस' और 'सान लोरेन्जो' निर्मित 'द बैसिलिका' वायु में विद्यमान विषाक्त स्मॉग के कारण नष्ट हो गये।

प्रकाश-रासायनिक स्मॉग का प्रभाव

प्रकाश-रासायनिक स्मॉग में प्रमुख रूप से पायी जाने वाली ओज़ोन, परॉक्सी एसिल नाइट्रेट, हाइड्रोकार्बन, नाइट्रोजन के ऑक्साइड इत्यादि सभी किसी न किसी प्रकार मनुष्य, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे तथा अन्य वस्तुओं पर अपना दुष्प्रभाव डालते हैं।

नाइट्रोजन के ऑक्साइडों का प्रभाव

नाइट्रोजन का एक ऑक्साइड, नाइट्रिक ऑक्साइड रक्त की ऑक्सीजन वहन करने की क्षमता को घटा देता है। नाइट्रिक ऑक्साइड की सान्द्रता बढ़ जाने पर नाइट्रोजन डाइ-ऑक्साइड का निर्माण होता है जो फेफड़ों के लिये हानिकारक होती है। वायु में प्रकाश-रासायनिक स्मॉग की अधिकता में. नाइट्रोजन डाइ-ऑक्साइड की प्रचुरता के कारण आँखों में क्षोभ (irritation) उत्पन्न हो जाता है। नाइट्रोजन डाइ-ऑक्साइड मनुष्य के लिये घातक भी हो सकती है। अनेक वर्ष पहले अमेरिका के 'क्लीवलैंन्ड' नगर के एक अस्पताल के एक्स-किरण फिल्मों में दुर्घटनावश आग लग गयी जिसके फलस्वरूप प्रचुर मात्रा में नाइट्रोजन डाइ-ऑक्साइड अस्पताल की वायु में फैल गयी। इसका फल हुआ 125 लोगों की मौत।

ओज़ोन का प्रभाव

प्रकाश-रासायनिक स्मॉग में सबसे अधिक मात्रा में उपस्थित ऑक्सीकारक ओज़ोन आज मानव ही नहीं वरन् पौधों व वस्तुओं के लिये भी अभिशाप सिद्ध हो रहा है।

मनुष्य साँस लेते समय वायु के साथ-साथ स्मॉग में उपस्थित ओजोन भी अपने अन्दर खींच लेता है जो शरीर में पहुँच कर श्वसन-तन्त्र को प्रभावित कर देता है। ओज़ोन की मात्रा जैसे-जैसे बढ़ती है, मनुष्य के स्वास्थ्य पर उसका अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जाता है। ओज़ोन की सान्द्रता यदि वातावरण में 0.2 ppm (Parts per million) या कम हो तो उसका मानव शरीर पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु सान्द्रता 0.3 ppm होते ही नाक व गले में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। सान्द्रता यदि थोड़ा और बढ़कर 1.0-3.0 ppm हो जाये तो मनुष्य अत्यधिक थका हुआ महसूस करने लगता है। सान्द्रता यदि बढ़कर 9.0 ppm हो जाती है तो चिन्ताजनक स्थिति हो जाती है और इस स्मॉग के प्रभाव क्षेत्र में रहने वाला मनुष्य फेफड़े के रोग से पीड़ित हो जाता है।

पौधों पर भी ओज़ोन की उपस्थिति का दुष्प्रभाव पड़ता है। वृक्षों की पत्तियों पर, ओज़ोन के सम्पर्क में आने पर, पीले रंग के (बिन्दुओं के समान) धब्बे पड़ जाते हैं। वृक्षों के इस रोग को 'क्लोरॉटिक स्टिपलिंग (Chlorotic stippling) कहते हैं। पौधों की वृद्धि करने की क्षमता घट जाती है और प्रकाश-संश्लेषण (Photosynthesis) की क्रिया की दर भी प्रभावित होकर कम हो जाती है।

प्रकाश-रासायनिक स्मॉग में ओज़ोन की प्रचुरता अन्य वस्तुओं पर भी भयंकर प्रभाव डालती है। रबर जिसमें ओज़ोन से क्रिया करने की तीव्र क्षमता होती है, इसकी अधिकता में टूटने और घिसने लगता है। जैसे-जैसे ओज़ोन की सान्द्रता बढ़ती है वैसे-वैसे रबर के घिसने व टूटने की अवधि छोटी होती जाती है अर्थात सान्द्रता बढ़ने पर रबर जल्दी टूटने व घिसने लगता है।

परॉक्सी एसिल नाइट्रेट का प्रभाव

प्रकाश-रासायनिक स्मॉग में पाया जाने वाला दूसरा महत्वपूर्ण व प्रदूषणकारी पदार्थ है परॉक्सी एसिल नाइट्रेट (Peroxy-acyl nitrate) या PAN । इसके द्वारा मनुष्य की आँख में जलन व क्षोभ उत्पन्न हो जाता है ।

पौधे भी परॉक्सी एसिल नाइट्रेट के सम्पर्क में आने पर प्रभावित हो जाते हैं । यदि वनस्पतियाँ मात्र कुछ घन्टों के लिये ही परॉक्सी एसिल नाइट्रेट या PAN, जिसकी सान्द्रता 0.02 ppm से 0.05 ppm हो, के सम्पर्क में आ जाती है तो उन पर घातक प्रभाव पड़ता है । अत्यधिक संवेदनशील पौधे भी 0.01 ppm सान्द्रता वाले परॉक्सी एसिल नाइट्रेट के सम्पर्क में यदि 5 घन्टों के लिये भी आ जाते हैं तो नष्ट हो जाते हैं ।

हाइड्रोकार्बन का प्रभाव

प्रकाश-रासायनिक स्मॉग बनने में हाइड्रोकार्बन भी भाग लेते हैं । इन्हें धूम-कोहरा अभिकारक (smog reactant) कहते हैं । मोटर-गाड़ियों से निकलने वाले धुंये में करीब 200 प्रकार के हाइड्रोकार्बन यौगिक पाये जाते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार इनमें से कुछ हाइड्रोकार्बन कैन्सर जैसे रोग उत्पन्न कर सकते हैं ।

स्मॉग से बचाव के उपाय

स्मॉग में पायी जाने वाली विषैली गैसों व पदार्थों के दुष्प्रभाव को देखते हुये यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि इससे बचने का कोई न कोई उपाय शीघ्र ही खोजा जाये ।

प्रकाश-रासायनिक स्मॉग में पाये जाने वाले प्रमुख पदार्थ (PAN, O_3 आदि) क्योंकि अन्य पदार्थों से बनते हैं अतः इनकी रोकथाम करने के लिये तथा इनसे होने वाले प्रदूषण को रोकने के लिये एक सम्भव प्रयास यह है कि जिन प्राथमिक पदार्थों से ये बनते हैं, जैसे हाइड्रोकार्बन, नाइट्रोजन ऑक्साइड आदि, उनको नियन्त्रित किया जाये ।

आटोमोबाइलों से हाइड्रोकार्बनों का निकलना, नियन्त्रित करना अत्यन्त कठिन कार्य है । अतः मोटर-गाड़ियों आदि के इन्जन यदि इस प्रकार के बनाये जायें कि उनमें से अधिक हाइड्रोकार्बन उत्सर्जन न हो, तो कुछ सीमा तक हाइड्रोकार्बन द्वारा होने वाले प्रदूषण को रोका जा सकता है । उदाहरण के लिये, दहन चैम्बर के सतह/आयतन अनुपात में कमी कर देने पर हाइड्रोकार्बनों का निकलना काफी सीमा तक घट जाता है ।

आन्तरिक दहन इन्जन के वायु तथा ईंधन के उचित अनुपात से भी हाइड्रोकार्बन के उत्सर्जन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है । यदि वायु/ईंधन अनुपात 15:1 हो तो हाइड्रोकार्बन का न्यूनतम उत्सर्जन होता है ।

हाइड्रोकार्बनों तथा कार्बन-मोनो-ऑक्साइड (CO) के ऑक्सीकरण के लिये विभिन्न उत्प्रेरक एग्जास्ट अभिकारक (reactors) बनाये गये हैं । इनके द्वारा नाइट्रोजन के ऑक्साइड (NO) का उपचयन भी होता है । पैलेडियम (Pd), प्लैटिनम (pt), आयरन ऑक्साइड (Fe_2O_3) इत्यादि ऑक्सीकारक उत्प्रेरक की तरह तथा पैलेडियम (Pd),

प्लैटिनम (Pt), रूदैनियम (Ru) कोबाल्ट (Co), निकल (Ni) या इनके ऑक्साइड अपचायक उत्प्रेरक की तरह कार्य में लाये जाते हैं। अतः यदि इन्जिन में एक सतह ऑक्सीकारक उत्प्रेरक की तथा दूसरी सतह अपचयनकारी उत्प्रेरक की लगा दी जाये तो नाइट्रोजन ऑक्साइड को तथा हाइड्रोकार्बनों को उत्प्रेरकों द्वारा हटाना सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार थोड़ी सी सूझ-बूझ तथा थोड़े से परिश्रम के द्वारा इस कठिन व जानलेवा संकट से कुछ सीमा तक छुटकारा पाया जा सकता है। स्मॉग की समस्या अधिकतर उन घाटियों में पायी जाती है जो समुद्र के किनारे अथवा पर्वतों से घिरी होती हैं। यद्यपि स्मॉग के दुष्परिणाम पश्चिमी देशों में अधिक दिखाई पड़ रहे हैं परन्तु भारत तथा अन्य विकासशील देश भी इस प्रकार के संकट से मुक्त नहीं हैं। जिस तीव्रता से हमारा देश औद्योगिक क्षेत्र में विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है, वह दिन दूर नहीं जब हमारे देश में भी बढ़ते हुये उद्योगों, आटोमोबाइलों इत्यादि के कारण स्मॉग की विपदा आये दिन लोगों को मौत की नींद सुला देगी। अभी तो एक 'भोपाल काण्ड' हुआ है। इसे एक चेतावनी के रूप में लेना चाहिये और शीघ्र से शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये। हमें अभी से स्मॉग के भावी संकट से मुक्ति के साधनों को ढूंढ़ लेना चाहिए ताकि इस शताब्दी को विदा देते हुये जब हम नयी शताब्दी का स्वागत करें, उस समय हमारे क्षितिज पर स्मॉग किसी भी प्रकार का आतंक न उत्पन्न कर सके। □□
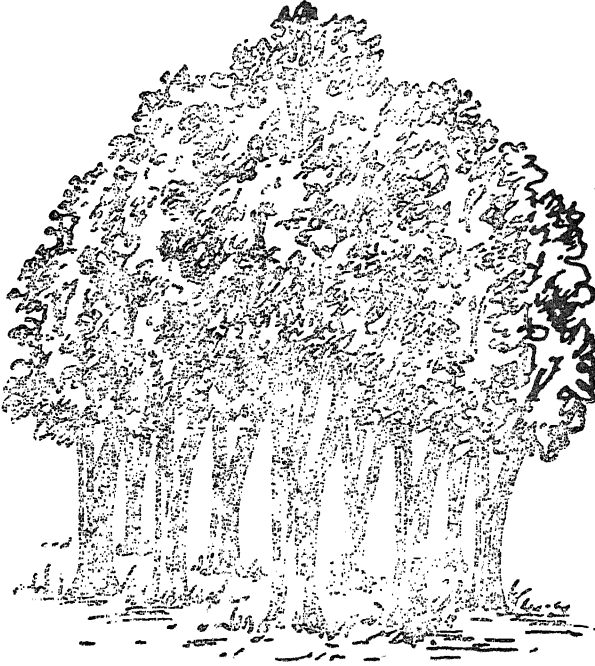
वन्यजन्तु-संरक्षण, क्यों और कैसे ?

रामलखन सिंह

ज्ञात ब्रह्माण्ड में हमारी धरती ही एक मात्र ऐसा अंतरिक्ष पिण्ड है, जिसके पर्यावरण में जीवनदायी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। यह परिस्थितियाँ सम्पूर्ण धरती पर एक समान नहीं हैं। सागर की तलहटी से लेकर ऊँची बर्फीली चोटियों तक, धरातल एवं जलवायु की विविधता के अनुसार यह परिस्थितियाँ भी अपने विशिष्ट रूपों में उपलब्ध हैं। इसीलिए धरती पर पिछले करोड़ों वर्षों के उत्क्रमण-काल में जीवों (अर्थात् वनस्पति एवं प्राणियों) की अनेकानेक प्रजातियों की उत्पत्ति सम्भव हो सकी है। एक अनुमान के अनुसार धरती पर लगभग एक करोड़ प्रजातियों के रूप में जीवन फल-फूल रहा है। इनमें से लगभग पन्द्रह लाख प्रजातियाँ ही अभी तक पहचानी जा सकी हैं। शेष प्रजातियों, जिनमें अधिकांश सूक्ष्मजीव-विषाणु (वाइरस), जीवाणु (बैक्टीरिया) आदि हैं, को अभी पहचाना जाना शेष है।

धरती पर उपलब्ध इस जैविक विविधिता की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनमें से कोई भी दो जीव-प्रजातियाँ, अपने पर्यावरण का उपभोग समान रूप से नहीं करतीं। प्रत्येक प्रजाति अपने विशिष्ट ढँग से, पर्यावरण के भौतिक (मिट्टी, पानी, वायु, ऊर्जा) एवं जैविक अंगों (वनस्पति और प्राणियों) की सहायता से जीवन-यापन करती है। अर्थात् किन्हीं दो प्रजातियों के आनुवंशिक सूत्र एक समान नहीं हैं। आनुवंशिक सूत्रों में निहित गुणों के अनुसार ही विभिन्न प्रजातियाँ अपने चारों ओर के पर्यावरण से व्यवहार करने को बाध्य हैं।

जीव-प्रजातियों की आनुवंशिक विशिष्टता ही उन्हें दूसरी प्रजातियों पर निर्भर करती है और बदले में उनके लिए उपयोगी बनती है, क्योंकि कोई भी प्रजाति अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक समस्त पदार्थ नहीं बना सकती। उसका शरीर जिन जैव-रसायनों (बायो-केमिकल्स) को बनाने का गुण रखता है, उसकी आवश्यकता दूसरी प्रजातियों को रहती है और दूसरों द्वारा निर्मित जैव-रसायनों की पहली प्रजाति को। स्पष्टतः किसी भी जीव-प्रजाति के विलुप्त होने का सीधा अर्थ है, उसके द्वारा निर्मित होने वाले जैव-रसायनों की अनुपलब्धि। इन पर निर्भर करने वाली दूसरी प्रजातियों की कार्य-क्षमता पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यह कुप्रभाव क्रमशः तीसरी; चौथी, पाँचवीं अर्थात एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर उन सभी प्रजातियों पर पड़ता है जो उस पर्यावरण में उगती-पलती हैं। इसीलिए किसी भी पर्यावरण को संतुलित एवं विकासोन्मुख बनाये रखने के लिए अनिवार्य है कि उसमें, प्राकृतिक रूप से पायी जाने वाली सभी प्रजातियों को अपनी भूमिका निभाने का अवसर मिलता रहे।

असंतुलन का कारण, उपभोक्ता पदार्थों की बढ़ती माँग

समस्त जीव-प्रजातियों के महत्व को समझते हुए भी, मानव जाति को, आदि काल से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न जीव-प्रजातियों में भेद-भाव करना पड़ा। सभ्यता के विकास के साथ, कुछ पौधों और प्राणियों को अपने लिए अधिक उपयोगी समझकर, मनुष्य उन्हें अपने घरों के आस-पास उगाने और पालने लगा। इनसे प्राप्त खाद्य पदार्थों एवं उपभोक्ता वस्तुओं की अधिक से अधिक मात्रा उत्पन्न करने के लिए, दूसरी कम उपयोगी प्रतीत होने वाली वनस्पतियों एवं पशु-पक्षियों को नष्ट करके, अपनी परिचित वनस्पतियों एवं प्राणियों को अधिक स्थान उपलब्ध कराना मानव-सभ्यता के विकास का ही एक चरण रहा है। इस प्रकार मानव-बस्तियों के चारों ओर प्राकृतिक रूप से उपलब्ध जैविक विविधिता के स्थान पर चुनी हुई जीव-प्रजातियों का बाहुल्य बढ़ता गया। यहाँ तक कि जंगलों में भी कीमती लकड़ी, ओषधि अथवा वनाधारित उद्योगों के लिए कच्चा माल देने वाली वृक्ष-प्रजातियों को उगाने-बढ़ाने की प्रबन्ध-नीति अपनाते हुए, कम उपयोगी प्रजातियों को उखाड़ फेंकने की परम्परा सभी राष्ट्रों में देखी जा सकती है। इसके पीछे मानव जाति का उद्देश्य अपना जीवन स्तर उठाना ही रहा है।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ कुछ विशेष खाद्यान्नों, दूध देने वाले पशुओं, उद्योगों के लिए कच्चा माल देने वाले वृक्षों के उत्पादों की माँग बढ़ती रही। परिणामस्वरूप कुछ चुनी हुई कृषि-फसलों, एवं पालतू पशु-पक्षियों के पक्ष में अधिक से अधिक भूमि नियोजित होती गयी।

विकास के इसी क्रम में वह समय भी आया जब प्राकृतिक रूप से उपलब्ध कृषि प्रजातियाँ मानव-जाति की आवश्यकता पूर्ति करने में असमर्थ प्रतीत होने लगीं। तभी प्रति एकड़ अधिक उपज देने वाली 'संकर' नस्लों की खोज हुई और उसके साथ ही आनुवंशिक-अभियांत्रिकी (जेनेटिक इन्जीनियरिंग) का एक नया विज्ञान प्रकाश में आया। इस नये विज्ञान ने एक झटके के साथ, मानव जाति को, कम उपयोगी प्रतीत होने वाली वनस्पति एवं प्राणी-प्रजातियों के महत्त्व के प्रति पुनः सचेत कर दिया।

सन्तुलन की आवश्यकता, सम्पन्नता के लिए

आनुवंशिक-अभियांत्रिकी के क्षेत्र में जैसे-जैसे हमारा ज्ञान बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे विभिन्न आनुवंशिक गुणों वाले पौधों एवं प्राणियों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि आने वाले भविष्य में वही राष्ट्र सर्वाधिक सम्पन्न होगा जिसके पर्यावरण में विविध गुणों वाले पेड़-पौधों एवं पशु-पक्षियों की प्रजातियाँ होंगी। इन्हीं से बनेंगी जलप्लावित, ऊजड़-बंजर, रेगिस्तानी एवं नितान्त अनुपजाऊ भूमि में भी उग सकने वाली फसलों की 'संकर' नस्लें, जो कम से कम समय में अधिक खाद्यान्न, फल, सब्जी, चारा, प्रकाष्ठ, ईंधन एवं वनस्पति आधारित उद्योगों (कागज़, कपड़ा, प्लाइवुड आदि) के लिए कच्चा माल दे सकेंगी।

प्राकृतिक गुणों वाली विभिन्न, जीव-प्रजातियों के आनुवंशिकसूत्रों (जीन्स) के रोपण-प्रत्यारोपण से उत्पन्न 'संकर' नस्लों की एक कमी का उल्लेख भी आवश्यक है। इस

प्रकार निर्मित नस्लों में पर्यावरण की सूक्ष्मजीवी प्रजातियों (विशेष रूप से वाइरस प्रजातियों) के हमले से बचने की क्षमता बहुत कम पायी गयी है। अर्थात् अधिक उपज देने वाली यह 'संकर' नस्लें आसानी से रोगग्रस्त हो जाती हैं। इसलिए इनको निरन्तर, ऐसी वनस्पति प्रजातियों के जीन्स में उपलब्ध प्रतिरोधक-क्षमता से उपचारित करते रहने की आवश्यकता पड़ती है, जो प्राकृतिक रूप से हमारे पर्यावरण में उत्क्रमित हुई हैं। ये प्रजातियाँ, करोड़ों वर्षों के उत्क्रमण-काल में सूक्ष्मजीवी प्रजातियों के घात-प्रतिघात सह कर ऐसे गुणों से युक्त हो गयी हैं, जो इन्हें बीमारियों से लड़ने की क्षमता देती हैं। यह प्राकृतिक गुण, इनके 'जीन्स' में संग्रहीत रहते हैं। इन्हीं की सहायता से कृषि फसलों को रोगनिरोधक क्षमता देने के प्रयोग चल रहे हैं। इसी के अनुरूप मानव जाति एवं उसके पालतू पशु-पक्षियों को विभिन्न रोगों से लड़ सकने का गुण दे सकने की क्षमता भी जंगली जीव-जन्तुओं में उपलब्ध है।

इस नये विज्ञान के प्रकाश में आते ही दुर्लभ आनुवंशिक गुणों के स्रोत के रूप में वन्यजीवों (प्राकृतिक रूप से उगने-पलने वाली वनस्पति एवं प्राणी प्रजातियाँ) को 'जीन-बैंक' के नाम से पहचाना जाने लगा है। इनके भीतर छिपी सम्भावनाओं को समझते हुए, सभी राष्ट्र, अपनी भौगोलिक सीमाओं में प्राकृतिक रूप से उगने वाली वनस्पति एवं उन पर पलने वाले प्राणियों की प्रजातियों को संरक्षित करने में जुट गये हैं।

जैविक-विविधता की संरक्षण-व्यवस्था

यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेने के बाद कि धरती पर उपलब्ध जैविक विविधता का संरक्षण, भविष्य की सम्पन्नता का आधार है, प्रत्येक राष्ट्र अपनी सीमाओं में उपलब्ध वनस्पति एवं प्राणियों की प्रजातियों का लेखा-जोखा सम्हालने और उनके संरक्षण की उपयुक्त प्रबन्ध-नीति खोजने को अति प्राथमिकता देने लगा है।

इस दृष्टि से हमारा राष्ट्र सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्रों में है। धरती के सम्पूर्ण क्षेत्रफल के मात्र दो प्रतिशत क्षेत्रफल वाले भारतवर्ष में समस्त जीवों की लगभग पाँच प्रतिशत प्रजातियाँ प्राकृतिक रूप से उपलब्ध हैं। इस जैविक सम्पन्नता का मूल कारण हमारे राष्ट्र की भौगोलिक विविधता है। जीव-भूगोल (बायो-ज्योग्राफी) की दृष्टि से धरती पर उपलब्ध 6 अंचलों में से तीन—इथियोपियन, पैलिआर्कटिक और ओरियण्टल—अंचलों की परिस्थितियाँ अकेले भारतवर्ष में पायी जाती हैं। विश्व के किसी अन्य राष्ट्र, यहाँ तक कि महाद्वीप में भी, दो से अधिक अंचलों की परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं।

गुजरात के 'गिर' वनों की वनस्पति एवं उनमें उपलब्ध 'सिंह' (बबर शेर) इथियोपियन अंचल का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिमालय के शंकुधारी वन एवं अल्पाइन शाद्वल (अल्पाइन मीडो) में पलते हांगुल (कश्मीरी स्टैग), बर्फीला तेंदुआ, भूरे भालू, आईबेक्स आदि पैलिआर्कटिक अंचल का प्रतिनिधित्व करते हैं। शेष भारतीय भू-भाग में ओरियण्टल अंचल की परिस्थितियाँ विविध रूपों में विद्यमान् हैं। तराई के घने साल वन और दलदली घास के मैदान, मध्यभारत के मिश्रित वन, रेगिस्तान के झाड़ीनुमा वन, सागरतटीय कच्छ वनस्पति, नदी घाटियों के शीशम वन और इन सभी को जीवन्त बनाये हुए बाघ

(टाइगर), गुलदार (लेपर्ड अथवा पैन्थर), बारासिंगा, चौसिंगा, चीतल हिरण, जंगली भैंस, हाथी, बन्दरों की अनेक प्रजातियाँ, मगरमच्छ, घड़ियाल, नाग, अजगर, मोनाल, फ्लोरीकन, सारस, फ्लैमिंगों और कीट-पंतगों की हजारों प्रजातियाँ इन वनक्षेत्रों में फल-फूल रही हैं। एक अनुमान के अनुसार वनस्पतियों एवं प्राणियों की लगभग सवा लाख प्रजातियाँ अभी तक भारतीय भूखण्ड पर पहचानी जा सकी हैं। सूक्ष्मजीवों की लगभग नब्बे प्रतिशत प्रजातियाँ अभी तक अपरिचित हैं।

अभी तक हमारे राष्ट्र में इस अद्वितीय जैविक-विविधता के सुरक्षित बचे रहने का एक कारण प्राचीन भारतीय विचारकों की इस दिशा में गहरी समझ रही है। विभिन्न गुणों वाले वन्य-जीवों की भूमिका का कितना सटीक अनुमान सदियों पूर्व ही भारतीय मनीषियों ने लगा लिया था—

यावत् भूमंडलम् धत्त समृगवनकाननम्,
तावत् तिष्ठति मेदिन्याम् संतति पुत्रपौत्रिकी।

(जब तक पृथ्वी पर वन्य जीवों से सम्पन्न वन हैं तब तक धरती मानववंश का पोषण करती रहेगी)

चाणक्य ने **ईसा** से तीन शताब्दी पहले ही 'अर्थशास्त्र' में लिखा था—"प्रत्येक राजा का दायित्व है कि वह कुछ प्राकृतिक क्षेत्रों को अभयारण्य के रूप में सुरक्षित रखे, जिससे वहाँ के वन्यजीव मानवजाति के भय से मुक्त रह कर विकसित हो सकें।"

विश्व के किसी भी राष्ट्र में, सदियों बाद भी, वन्य-जीवन के संरक्षण की इतनी स्पष्ट नीति की परिकल्पना देखने को नहीं मिलती।

विदेशी शासनकाल में जहाँ हमारी अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं को क्षति पहुँची, वहीं हमारे वैज्ञानिक चिन्तन की धारा भी अवरुद्ध हुई। प्राकृतिक संसाधनों के दूरगामी लाभों को अनदेखा कर, तात्कालिक लाभ कमाने की व्यापारिक दृष्टि हमें अंग्रेजी शासन काल में मिली। इसका प्रभाव स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी कई दशकों तक बना रहा। यह एक कटु सत्य है कि वर्ष 1950 से 1970 तक के दो दशकों में भारतीय वन्य जीवन को जितनी क्षति पहुँची, उतनी पिछली दो शताब्दियों में भी नहीं हुई थी। इसका एक कारण विदेशी शासनकाल में मान्यता पा गयी सामन्तशाही परम्पराओं का हमारे व्यवहार एवं विचारों में बना रहना था। इसी अवधि में 'भारतीय चीता' की नस्ल विलुप्त हो गयी। वर्ष 1969 में जब सर्वप्रथम एक वनशास्त्री **कैलाश सांखला** ने, भारतीय वनों के अति विशिष्ट जीव 'बाघ' की संख्या घटकर ढाई हजार के लगभग रह जाने के साक्ष्य प्रस्तुत किए तब प्रथम बार वर्ष 1970 में भारत सरकार ने सम्पूर्ण राष्ट्र में बाघ के शिकार एवं खाल के व्यापार पर रोक लगायी। उस समय इस रोक के विरोध में देशी शिकार कम्पनियों ने दिल्ली उच्च न्यायालय में मुकदमा दायर करके अपने व्यापार चलाते रहने की जी तोड़ कोशिश की थी।

9 फरवरी, 1971 को विद्वान न्यायधीशों, सर्वश्री **एच० आर० खन्ना** एवं **वी० डी० मिश्रा** ने जब अपना निर्णय बाघ के पक्ष में सुनाया तो इस दुखद तथ्य का भी उल्लेख किया—"1947 के पहले बाघ एवं दूसरे जंगली जीवों का शिकार कराने का व्यापार

करने वाली एक भी कम्पनी नहीं थी जब कि उसके बाद भारतवर्ष में सत्ताइस कम्पनियाँ पंजीकृत होकर सामने आयीं।"

वर्ष 1971 को भारतवर्ष में वन्यजीवों के संरक्षण की नीति का पुर्नजागरण वर्ष माना जा सकता है। उसके बाद ही वर्ष 1972 में 'वन्यजन्तु-संरक्षण अधिनियम' पारित हुआ और 'राष्ट्रीय उद्यानों' एवं 'अभयारण्यों' (सैंक्चुरी) की स्थापना को प्राथमिकता मिली। इस अधिनियम ने वनस्पति-प्रजातियों को स्पष्ट रूप में वन्यजीव घोषित करके उनके वंश-संवर्धन को संवैधानिक मान्यता प्रदान की। एक वर्ष बाद 1973 में राष्ट्र के चुने हुए नौ प्राकृतिक क्षेत्रों (3 राष्ट्रीय उद्यानों एवं 6 अभयारण्यों) को केन्द्रीय योजना 'प्रोजेक्ट टाइगर' के अन्तर्गत व्यवस्थित करने का अभियान चलाया गया। आज हमारे राष्ट्र में 60 राष्ट्रीय उद्यान एवं 257 अभयारण्य हैं। इसके अन्तर्गत सुरक्षितक्षेत्र 105000 (एक लाख पाँच हज़ार) वर्ग किलोमीटर के लगभग है। प्रदेशवार विवरण तालिका-1 में देखा जा सकता है।

प्रबन्ध-नीति

वन्यजीवों की अपने पर्यावरण के जैविक (वनस्पति एवं प्राणी प्रजातियों) तथा भौतिक अंगों (मिट्टी, जल, वायु, ऊर्जा आदि) पर निर्भरता को समझते हुए संरक्षित क्षेत्रों, विशेष रूप से राष्ट्रीय-उद्यान के रूप में मान्यता प्राप्त क्षेत्रों में सम्पूर्ण पर्यावरण को, सभी प्रकार के दोहन एवं कुप्रभावों से बचाने की नीति अपनायी जा रही है। इसे 'सर्वांगीण प्रबन्ध नीति' कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत समस्त वृक्ष प्रजातियों के कटान, सूखे-गिरे वृक्षों को उनके स्थान से हटाने, पशु-पक्षियों के शिकार पकड़ने तथा जलस्रोतों के प्रवाह में बाधा डालने जैसे सभी कार्यों को अवैध एवं कानून की दृष्टि में दण्डनीय अपराध माना जाता है। राष्ट्रीय-उद्यान में पालतू पशुओं का चराना भी अवैध कार्य है, क्योंकि इनके सम्पर्क में आने से हिरणों तथा दूसरे वनस्पति आहारी जीवों में बीमारी फैलने की संभावना रहती है।

राष्ट्रीय उद्यानों में किसी भी वनस्पति अथवा प्राणी-प्रजाति को दूसरी कम परिचित प्रजाति की तुलना में प्राथमिकता नहीं देने की नीति अपनायी जाती है। अर्थात् बाघ गैंडा, हाथी अथवा सागौन, चन्दन, देवदार जैसे मूल्यवान जीवों को खरगोश अथवा पानी में उगी घास के समकक्ष ही माना जाता है। किसी भी जीव को बाहर से लाकर खाने को कुछ भी नहीं दिया जाता। इसके पीछे उद्देश्य यही रहता है कि प्रकृति के अदृश्य नियम अपना कार्य निर्बाध रूप से कर सकें।

आग से बचाव के व्यापक प्रबन्ध किए जाते हैं, क्योंकि चारों ओर मानव आबादी से घिरे होने के कारण इन संरक्षित क्षेत्रों में आग से क्षति की पर्याप्त सम्भावना रहती है। राष्ट्रीय उद्यानों में पालतू पशुओं के चराने एवं गिरी-पड़ी सूखी लकड़ी बीनने पर रोक के कारण वन क्षेत्र में ज्वलनशील पदार्थ की अधिकता के कारण आग से क्षति भी अधिक होती है। इसलिए इन संरक्षित क्षेत्रों में अग्निसुरक्षा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है।

राष्ट्रीय-उद्यान की सीमाओं में बसे आदिवासी ग्रामीणों को समकक्ष भूमि आवंटित करके, बाहर स्थित वन क्षेत्रों में बसाने की नीति भी अपनायी जा रही है, क्योंकि वन्य जीवों के लिए सुरक्षित क्षेत्र में मानव-बस्ती का रहना अनेक दृष्टियों से हानिकारक पाया गया है। सर्वप्रथम तो इन ग्रामीणों को विकास योजनाओं के लाभों से वंचित रहना पड़ता है। राष्ट्रीय उद्यान की सीमाओं में स्कूल, अस्पताल, सड़कें, कुटीर-उद्योग आदि के निर्माण एवं विकास की अनुमति नहीं दी जा सकती। इसके साथ ही संरक्षण के परिणामस्वरूप, वन्य पशुओं की संख्या में हुई वृद्धि के कारण, आदिवासियों की कृषि फसलों की क्षति भी बढ़ जाती है। इसलिए इन ग्रामों को बाहर पुर्नस्थापित करने की नीति लागू की गयी है। राजस्थान के रणथम्भोर टाइगर रिजर्व, मध्य प्रदेश के कान्हा टाइगर रिजर्व के मध्य स्थित ग्रामों को बाहर बसाने के लाभदायी परिणाम देखने को मिले हैं। इस नीति को अन्य राष्ट्रीय-उद्यानों में भी लागू किया जा रहा है।

उपरोक्त प्रबन्ध-नीति को अभी तक 'प्रोजेक्ट टाइगर' के अन्तर्गत व्यवस्थित किए जा रहे राष्ट्रीय-उद्यानों एवं अभयारण्यों में लागू किया जा सका है। इसमें आशातीत सफलता मिली है। इसीलिए राष्ट्र के अन्य महत्वपूर्ण प्राकृतिक क्षेत्रों को भी इस योजना के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। वर्ष 1987 तक प्रोजेक्ट टाइगर के अन्तर्गत व्यवस्थित क्षेत्रों की संख्या बढ़कर सोलह हो गयी है। इनके अन्तर्गत पच्चीस हजार वर्ग किलो मीटर वनक्षेत्र को 'सर्वांगीण प्रबन्ध नीति' के अनुसार संरक्षित किया जा रहा है। इसका लाभ इसी से आंका जा सकता है कि वर्ष 1972 में बाघों की संख्या 1827 थी किन्तु 1984 में यह बढ़कर 4005 हो गयी।

मानवभक्षी बाघों की प्रबन्ध-नीति

बाघ एवं दूसरे हिंस्र समझे जाने वाले वन्य-जीवों को स्वछन्द रूप से वनक्षेत्रों में रहने की छूट देने से मानवभक्षण की घटनाओं में वृद्धि होने का संदेह उठता है। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। किसी भी 'टाइगर रिजर्व' की सीमा की घेरेबन्दी नहीं की गई है, फिर भी कोई बाघ वनक्षेत्र से बाहर स्थित ग्रामों में नहीं जाता। स्वभाव से सभी वन्यजीव, मनुष्य से दूर रहना चाहते हैं। बाघ द्वारा लोगों के दुर्घटनाग्रस्त होने की समस्त घटनायें आरक्षित वनक्षेत्र में लोगों द्वारा अवैध घुसपैठ करते समय ही घटती हैं। इसीलिए जब आरक्षित क्षेत्रों में लोगों के आवागमन को नियंत्रित कर दिया गया तो दुर्घटनाओं की संख्या भी घट गयी। पश्चिम बंगाल के सुन्दरवन क्षेत्र में वर्ष 1972 तक प्रतिवर्ष पचास लोग बाघ के साथ मुठभेड़ में मारे जाते थे। किन्तु इस क्षेत्र को 'टाइगर' रिजर्व' के रूप में आरक्षित करके लोगों की घुसपैठ रोक देने का परिणाम यह हुआ कि बाघों की संख्या बढ़ने के बाद भी, प्रति वर्ष, दुर्घटनाओं की संख्या घटकर लगभग तेईस हो गयी है। ये लोग भी आरक्षित क्षेत्र में अनधिकृत प्रवेश करने के कारण दुर्घटनाग्रस्त होते हैं। अतः यह स्पष्ट हो गया है कि यदि बाघ अथवा दूसरे वन्यजीवों के प्राकृतिक आवास में घुसपैठ न की जाये तो मानवभक्षण की कोई दुर्घटना नहीं घटेगी।

पर्यटन-उद्योग पर नियंत्रण

वन्यजीवों के संरक्षण के वैज्ञानिक महत्व को देखते हुए राष्ट्रीय-उद्यानों, विशेष कर 'प्रोजेक्ट टाइगर' के अन्तर्गत संरक्षित क्षेत्रों में पर्यटकों की गतिविधियों पर पर्याप्त अंकुश लगाने की नीति अपनायी जा रही है। किसी भी पर्यटक को अकेले, पैदल घूमने की छूट नहीं दी जाती। पर्यटकों के आवास-स्थल भी आरक्षित क्षेत्र की सीमाओं से बाहर बनाने का नियम है। इस कड़ी नीति का उद्देश्य यही है कि वन्यजीवन के प्राकृतिक विकास में कोई बाधा न पहुँचे।

'प्रोजेक्ट टाइगर' में बाघों को कोई विशेष सुविधा नहीं

हमारे राष्ट्र में वन्यजीव-संरक्षण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण योजना 'प्रोजेक्ट टाइगर' के नाम से यह भ्रम हो सकता है कि इन क्षेत्रों में बाघ को दूसरे वन्यजीवों की तुलना में प्राथमिकता दी जाती होगी। किन्तु यह सत्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि बाघ की दूसरे वन्यजीवों और उन जीवों की वनस्पति प्रजातियों पर निर्भरता देखते हुए, बाघ को भारतीय वनों का सर्वाधिक असहाय जीव समझ कर उसको संरक्षण देने वाली वनस्पति एवं प्राणी प्रजातियों को प्राथमिकता दी जाती है। बदले में यह समस्त प्रजातियाँ, बाघ के संरक्षण योग्य परिस्थितियों को पुष्ट करती हैं।

इस योजना का नाम 'प्रोजेक्ट टाइगर' रखने के पीछे उद्देश्य यह है कि भारतवर्ष जैसे विशाल राष्ट्र में उत्तर से दक्षिण, और पूरब से पश्चिम तक फैली विभिन्न जीव-भौगोलिक परिस्थितियों में रह सकने की क्षमता के कारण बाघ को राष्ट्रीय पशु का दर्जा दिया गया है। अतः यदि बाघ की प्रजाति भारतीय वनों में सुरक्षित है तो इसे वन्य जीवन के संरक्षण का मापदण्ड माना जा सकता है।

वन क्षेत्रों से बाहर रह रहे वन्य जीवों का संरक्षण

यह एक मिथ्या धारणा है कि हमारे राष्ट्र का समस्त वन्यजीवन (प्राकृतिक रूप से उगने-पलने वाली वनस्पति एवं प्राणी प्रजातियाँ), वन क्षेत्रों में ही पायी जाती हैं। वास्तविकता यह है कि अनेक जलीय पौधे, तितलियाँ, फल वृक्ष, रेंगने वाले प्राणी वन क्षेत्रों से बाहर स्थित बागों, तालाबों, नदी-नालों के किनारे पाये जाते हैं। इनको संरक्षण नहीं देने से हम अनेक बहुमूल्य जीव-प्रजातियों से हाथ धो बैठेंगे। अभी तक इन क्षेत्रों के वन्यजीवन को प्रभावी संरक्षण देने की व्यवस्था हमारे राष्ट्र में नहीं है। इस कमी को पूरा करने के लिए 'बायोस्फ़ीयर रिज़र्व्स' की स्थापना की जा रही है। इनके अर्न्तगत वन क्षेत्रों से बाहर स्थित वन्यजीवन एवं जनजीवन को संरक्षण प्रदान करने की परिकल्पना की गयी है। इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि जैविक विविधता के अनुरूप ही सांस्कृतिक विविधता भी एक अमूल्य प्राकृतिक धरोहर है। दोनों में तालमेल बिठाने के सिद्धान्त पर आधारित 'बायोस्फ़ीयर रिज़र्व' स्थापित करने की नीति को प्रायोगिक रूप दिया जाना अभी भी शेष है। हमारे राष्ट्र का सर्वप्रथम बायोस्फ़ीयर रिज़र्व, सितम्बर

तालिका—1

(प्रदेशवार राष्ट्रीय उद्यानों एवं अभयारण्यों का विवरण)

प्रदेश/केन्द्र शासित क्षेत्र	राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या	अभयारण्यों की संख्या	विशेष विवरण
अण्डमान एवं निकोबार	6	5	1. राष्ट्रीय उद्यानों (नेशनल पार्क) एवं अभयारण्यों (वाइल्ड लाइफ सैंक्चुरी) का प्रबन्ध/प्रशासन राज्य सरकारें करती हैं।
आन्ध्र प्रदेश	—	15	
अरुणाचल प्रदेश	2	4	
आसाम	1	9	
उड़ीसा	1	17	
उत्तर प्रदेश	4	14	
कर्नाटक	3	16	
केरल	3	11	
गुजरात	4	13	2. राष्ट्रीय उद्यान में पालतू पशुओं का चरान अपराध है जब कि अभयारण्य में राज्य सरकार इसकी छूट दे सकती है।
गोवा, दमन, दिउ	1	3	
चण्डीगढ़	—	1	
जम्मू-कश्मीर	3	6	
तमिलनाडु	2	10	
नागालैण्ड	—	3	
पंजाब	—	5	3. 'प्रोजेक्ट टाइगर' के अर्न्तगत कुछ 9 राष्ट्रीय उद्यानों एवं 6 अभयारण्यों को केन्द्रीय सहायता से व्यवस्थित किया जा रहा है।
बिहार	1	12	
मणिपुर	2	—	
मेघालय	2	3	
मिज़ोरम	—	1	
महाराष्ट्र	4	10	
पश्चिम बंगाल	3	14	
राजस्थान	4	20	4. राष्ट्रीय उद्यानों एवं अभयारण्यों के अर्न्तगत सुरक्षित वनों का क्षेत्रफल 1,05,000 वर्ग कि० मी० है।
सिक्किम	1	3	
हरयाणा	—	1	
हिमाचल प्रदेश	2	28	
त्रिपुरा	—	2	
मध्य प्रदेश	11	31	
योग	60	257	

1986 में 'नीलगिरि जीवमंडल' नाम से कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु राज्यों के क्षेत्रों को मिलाकर स्थापित किया गया है। दूसरा बायोस्फ़ीयर रिज़र्व, उत्तरप्रदेश में 'उत्तराखण्ड जीवमंडल' नाम से स्थापित करने की योजना है।

बायोस्फ़ीयर रिज़र्व्स के अन्तर्गत वन्यजीव विशेषज्ञों के साथ ही, कृषि वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों, प्रशासकों, मानवशास्त्रियों से परामर्श करके सामूहिक प्रबन्ध-नीति विकसित की जायेगी। इसका मूलमंत्र होगा—प्राकृतिक संसाधनों का पारिस्थितिकीय रूप से विकास करने में जनता की भागीदारी स्थापित करना।

वन्यजीवन को संरक्षित करने के हमारे ये प्रयास, अपने पूर्वजों द्वारा शोधित विचारों को आगे बढ़ाने के समान है। भूतपूर्व प्रधान मंत्री **श्रीमती इन्दिरा गाँधी** ने इसे भली-भाँति समझते हुए कहा था—

"प्रकृति संरक्षण में हमारी रुचि मात्र भावनात्मक नहीं है। यह तो उस परम सत्य को नये सिरे से समझने का प्रयास है, जिसे हमारे पूर्वज भली-भाँति समझते थे। भारतीय परम्परा हमें यही सिखाती है कि जीवन के विविध रूप—मनुष्य, जीव-जन्तु और वनस्पति एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि किसी एक को क्षति पहुँचने से दूसरों का असंतुलित हो जाना निश्चित है।" □□

भारत के वन एवं वन्यप्राणी संपदा : संरक्षण के प्रयास

सतीश कुमार शर्मा

सारे साल भर एक ही मौसम हो, एक ही खान-पान हो, एक ही पहनावा हो तो जीवन कितना मशीनी हो जायेगा ? लेकिन धन्य है भारत देश जहाँ हर क्षेत्र में विविधता ही विविधता भरी है। मानवीय जीवन से लेकर वन और वन्यप्राणियों तक विविधता कई रूपों में दृष्टिगोचर होती है। हम बात वन एवं वन्यप्राणियों की कर रहे हैं जिसमें विविधताओं का भरपूर मिश्रण विद्यमान है। भारत की धरती पर 16 मुख्य किस्मों के वन, 15,000 किस्मों के पुष्पधारी पौधे, 350 किस्मों के स्तनधारी प्राणी, 2100 किस्मों के पक्षी, 216 किस्मों के साँप, तीन तरह के मगर, 31 किस्मों के कछुये, 181 किस्मों के उभयचारी, 30000 तरह के कीट-पतंगे जिनमें लगभग 1400 किस्मों की सुन्दर तितलियाँ शामिल हैं तथा अनेक किस्मों की मछलियाँ, शंख, घोंघे, कृमि, अपुष्पधारी पौधे इस देश की धरती के वनों, खेतों, पहाड़ों, रेगिस्तानों, समुद्रों, झीलों, नदियों, मुहानों पर सदियों से निवास करते आ रहे हैं।

यों तो शिकार प्राचीनकाल में राजा-महाराजाओं का दुर्व्यसन रहा है परन्तु वनों तथा वन्यप्राणियों का महाविनाश अंग्रेज़ों के आगमन के बाद ही प्रारम्भ हुआ। यूरोपीय उद्योग-धन्धों हेतु कच्चा माल जुटाने के लिये उन्होंने वनों का भारी दोहन किया, वन्य-प्राणियों के आवासों को बर्बाद किया तथा मौज-मस्ती के नाम पर वन्यप्राणियों का बेरहमी से सफाया किया। अंग्रेज़ों ने अपने नाम शिकार के बड़े से बड़े कीर्तिमान लिखाने के लिये घातक हथियारों का उपयोग कर अन्धाधुन्ध शिकार का रास्ता पकड़ा। यूरोप के लिये ट्रॉफियाँ जुटाने के लिये असंख्य वन्यप्राणियों को जानें ली गईं।

आज़ादी मिलने के बाद भी वनों तथा वन्यप्राणियों का महाविनाश रुका नहीं। बढ़ती जनसंख्या औद्योगीकरण, प्रदूषण, बाढ़, सूखा, आदिवासियों की वन एवं वन्यप्राणियों पर निरन्तर निर्भरता, अतिक्रमण, नये रेल तथा सड़क मार्गों का विकास नदी-घाटी परियोजनायें, पुनर्वास कार्यक्रम, जन-जागृति की कमी, झूम खेती, आदि कारणों से हमारी वन तथा वन्यप्राणी संपदा का विनाश अभी भी जारी है।

राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार कुल भूभाग के 33% क्षेत्र पर वन होने चाहिये परन्तु आज 22.9% क्षेत्र पर ही वन हैं। चिंता की बात यह है कि हमारे वन न केवल मात्रात्मक रूप से पिछड़ते जा रहे हैं बल्कि वे गुणात्मक रूप से भी पीछे जा रहे हैं। एक बार उजड़ चुका वन क्षेत्र तो पुनः मानवीय प्रयास से आबाद किया जा सकता है परन्तु किसी प्रजाति के संपूर्ण विलुप्तीकरण के बाद उसे पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता।

हमारे वनों का गुणात्मक पहलू दुखद स्थिति की तरफ बढ़ रहा है। आई० यू० सी० एन० (IUCN) के निर्देशन में भारत के वनों की संकटग्रस्त वनप्रजातियों का सर्वेक्षण किया गया तो रोंगटे खड़े करने वाले तथ्य सामने आये। दक्षिणी भारत से 520 प्रजातियाँ, शुष्क तथा अर्द्धशुष्क क्षेत्रों से 62, पश्चिमी हिमालय से 162 तथा पूर्वोत्तर भारत से 115 प्रजातियाँ संकटग्रस्त पाई गईं। उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि देश के मात्र 4 भागों से ही पौधों की 869 प्रजातियाँ विलुप्तीकरण के ख़तरे का सामना कर रही हैं। एक अनुमान के अनुसार देश में पुष्पधारी पौधों की लगभग 2000 प्रजातियों के अस्तित्व को किसी न किसी प्रकार ख़तरा विद्यमान है। कई किस्मों के पौधे जैसे **ह्यूबोर्डिया हैप्टोन्यूरॉन, डेन्ड्रोबियम पौसीफ्लोरम, पैफिओपेडीलम ड्रूराई** आदि सम्भवतः जंगली अवस्था में विलुप्त हो चुके हैं।

वन्यप्राणियों की भी स्थिति बहुत दयनीय है। स्तनधारियों की 81 प्रजातियाँ, साँपों की कई प्रजातियाँ (अजगर तथा अण्डे खाने वाले साँप विशेष रूप से), कई तरह के कछुये, छिपकलियाँ, 3 तरह के मगर, सैंकड़ों किस्मों की तितलियाँ, 13 किस्मों के गुबरैले, एक किस्म का केकडा, कई किस्मों के पक्षी संकटग्रस्त घोषित किये जा चुके हैं। चीता, लालसिर की बतख़, पहाड़ी बटेर, जर्डनी कर्सर जैसे प्राणियों का देश में वर्तमान में विद्यमान होने का कोई प्रमाण नहीं है। खुशी की बात है कि 'बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी' (BNHS) के 'एन्डेन्जर्ड स्पीशीज़ प्रोजेक्ट' के कार्यकर्ताओं ने 85 साल बाद 14-1-86 को जर्डनी कर्सर को आन्ध्रप्रदेश के कडप्पा ज़िले में पुनः खोज लिया है।

देश में वन तथा वन्यप्राणी सुरक्षा का सघन अभियान चलाया जा चुका है। वर्तमान में 50 से ज्यादा चिड़ियाघर, 59 राष्ट्रीय उद्यान, 254 अभयारण्य, 16 टाइगर रिज़र्व तथा एक बायोस्फीयर रिज़र्व स्थापित किया जा चुका है जिनमें कुल वनक्षेत्र का 15% तथा देश के कुल भूभाग का 4% क्षेत्र संरक्षित कर दिया गया है।

वन्यजीव (सुरक्षा) अधिनियम 1972 के आने से वन्यप्राणी सुरक्षा अभियान को काफी गति मिली है। 1952 में गठित 'इन्डियन बोर्ड ऑव वाइल्डलाइफ' (IBWL) अभयारण्यों, राष्ट्रीय-उद्यानों, चिड़ियाघरों आदि के रख-रखाव के सम्बंध में सरकार को महत्वपूर्ण सिफारिशें समय-समय पर भेजता है। वन एवं वन्यप्राणियों तथा उनके उत्पादों के अवैध व्यापार को रोकने के लिये भारत 'कन्वेन्शन ऑन इन्टरनेशनल ट्रेड इन एन्डेन्जर्ड स्पीशीज़ (CITES)' का सदस्य बन चुका है। इस संगठन के प्रकट होने के बाद तितलियों तथा ऑर्किडों की तस्करी पर काफी रोक लगी है। यही नहीं, वन एवं वन्यजीवों एवं उनके उत्पादों का निर्यात, आयात एवं पुनःनिर्यात देश के केवल चार केन्द्रों, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई तथा दिल्ली से ही हो सकता है। इन स्थानों पर संपूर्ण आवक-जावक का पूर्ण निरीक्षण किया जाता है।

यूनेस्को के 'मैन एण्ड बायोस्फीयर' कार्यक्रम के अन्तर्गत मध्यप्रदेश के कांगेर वैली क्षेत्र में एक 'बायोस्फीयर रिज़र्व' बनाया गया है। इसी तरह के अन्य रिज़र्व सभी प्रारूपिक आवासों में स्थापित किये जायेंगे जिनका उपयोग भविष्य में 'जीन बैंकों' की तरह किया जायेगा।

हाल ही में सरकार ने मेढकों को बचाने की तरफ भी कदम उठाये हैं ताकि हमारे कृषि पारिस्थितिकी तन्त्र (Agro ecosystem) का विघटन न हो। मेढकों को वन्यप्राणी (सुरक्षा) अधिनियम की अनुसूची 4 में शामिल कर उनकी टाँगों के निर्यात पर रोक लगा दी है। अब सिर्फ उन्हीं लोगों को लाइसेन्स दिये जायेंगे जो पीड़ारहित तरीकों से मेढकों की टाँगे काटेंगे।

कुछ विशेष प्राणी जैसे हिस्पिड हेयर, पिग्मी हॉग, गैंडा, सिंह, बाघ, मगर-घड़ियाल, ऑलिव रिडले टर्टल, डान्सिग डीयर, कस्तूरी मृग, आदि को बचाने तथा उनके प्रजनन को बढ़ावा देने के लिये कई कार्यक्रम आरम्भ किये गये हैं। सरकार ने भूटान की तरफ मनास नदी पर बाँध बनाने का विचार छोड़ दिया है क्योंकि यदि यह बाँध बन जाता तो मनास अभयारण्य को ख़तरा पैदा हो जाता। स्मरण रहे यह क्षेत्र पिग्मीहॉग जैसे दुलर्भ वन्यप्राणी का एक मात्र शरण स्थल है।

कस्तूरी मृग को बचाने के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने 'मस्क डीयर ब्रीडिंग प्रोजेक्ट' आरम्भ किया है। इसी तरह मगरों को बचाने के लिये 'क्रोकोडाइल ब्रीडिंग प्रोजेक्ट' चलाया गया है। राजस्थान एवं मध्यप्रदेश चम्बल नदी में इस तरह का महत्वपूर्ण कार्य संपादित कर रहे हैं। गोडावण पक्षी को सुरक्षा प्रदान करने के लिये राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तथा आन्ध्र प्रदेश में विशेष संरक्षित स्थान बनाये गये हैं। राजस्थान में तो इस पक्षी को ससम्मान 21 मई 1982 को 'राज्य पक्षी' का दर्जा दिया जा चुका है।

ऑलिव रिडले टर्टल के व्यापार पर भी सरकार ने रोक लगा दी है। 1982 में उड़ीसा की 'इकाहुला बीच' में 1,70,000 कछुये अण्डे देने पहुँचे थे परन्तु उचित संरक्षण का फल शीघ्र ही सामने आ गया जब 1985 में अण्डे देने आये कछुओं की संख्या 3,00,000 तक पहुँच गई।

संरक्षण का एक महत्वपूर्ण पहलू और भी है—विलुप्त समझी जाने वाली तथा अज्ञात नई प्रजातियों की खोज की जानी चाहिये तथा विविध तरह के अध्ययन कर पर्याप्त तथ्य भी जुटाने चाहिये। खुशी की बात है देश में इस तरफ भी काफी प्रयास हो रहे हैं। फिन्स बया, जर्डनी कर्सर जैसे पक्षियों को पुन: खोज लिया गया है। हिस्पिड हेयर तथा पिग्मी हॉग जैसे स्तनधारियों को, जिन्हें विलुप्त माना जा रहा था, 1971 में पुन: खोज लिया गया। इसी तरह ई० पी० जी० जैसे प्रसिद्ध प्रकृतिविद ने मनास में 1950 में एक नई प्रजाति के लंगूर की खोज की जिसे सुनहरा लंगूर (*Presbytis geei*) का नाम दिया गया। न केवल प्राणी बल्कि नये पौधों के खोज की दिशा में भी देश में अच्छी उपलब्धि रही। कुछ विलुप्त समझे वाले पौधे भी पुन: खोजे गये। 1970 में श्री प्रधान द्वारा विलुप्त समझे जाने वाले डेन्ड्रोबियम पौसीफ्लोरम नामक ऑर्किड का एक पौधा पुन: भारत के जंगलों में खोजा गया है। नई प्रजातियों की खोज के सम्बन्ध में 'जूलॉजीकल सर्वे ऑव इन्डिया' तथा 'बोटैनिकल सर्वे ऑव इन्डिया' ने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारतीय वन एवं वन्यप्राणी संपदा के अध्ययन तथा संरक्षण में 'बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी' 1883

से लेकर अब तक शताधिक वर्षों से अमूल्य सेवा करती आ रही है। इसी संस्था के प्रयासों का फल है कि आज देश में प्रथम श्रेणी के प्रकृतिविदों की एक बड़ी संख्या पैदा हो चुकी है। इस संस्था ने प्राकृतिक संपदा पर पर्याप्त साहित्य भी तैयार किया है।

निस्संदेह वन एवं वन्यप्राणी संरक्षण की दिशा में सरकार, स्वयंसेवी संस्थायें एवं कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं परन्तु हमारा लक्ष्य अभी भी बहुत दूर है। जब तक देश का आम आदमी वन एवं वन्यप्राणियों की महत्ता एवं अनिवार्यता को नहीं समझेगा, तब तक हम अपनी इस अमूल्य धरोहर को आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित नहीं रख सकेंगे।

आइये! वन एवं वन्यप्राणियों को सम्मान एवं संरक्षण प्रदान कर आने वाली पीढ़ियों का अस्तित्व चिरस्थायी बनायें। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो आने वाली पीढ़ियाँ हमें कभी माफ नहीं करेंगी।

हमारी लुप्तप्राय मत्स्य-सम्पदा

अरविन्द मिश्र

जनसंख्या के अन्तहीन दबाव के चलते उग्रतर होती खाद्य समस्या और फलस्वरूप संसाधनों के अतिदोहन, द्रुत नगरीकरण एवं औद्योगीकरण तथा विभिन्न मानवजनित और प्राकृतिक प्रदूषणों के मिले-जुले आसुरी प्रभावों से हमारी चिरसमृद्ध मत्स्यसम्पदा की सतत भावी उपलब्धता (?) पर प्रश्नचिन्ह लगने आरम्भ हो गये हैं। इक्कीसवीं सदी के भरोसेमन्द खाद्य स्रोतों की विधिवत पड़ताल के सन्दर्भ में यहाँ मत्स्यसम्पदा की वर्तमान (लुप्तप्राय) स्थिति पर एक दृष्टि प्रासंगिक होगी।

भारत में, समुद्री एवं अन्तर्स्थलीय दोनों तरह के मत्स्य संसाधनों की प्रचुरता है। यहाँ एक हजार से ऊपर ही मत्स्य प्रजातियाँ पहचानी गयी हैं, जिनमें 376 प्रजातियों का विशेष आर्थिक महत्व भी है। भारतीय अन्तर्स्थलीय मत्स्यसम्पदा विश्व के समृद्धतम मत्स्य संसाधनों में से एक है। मछलियों के प्राकृतिकवास (Habitat) की दृष्टि से अन्त-र्स्थलीय मत्स्यसम्पदा को दो वर्गों में रखा गया है—मीठे जल (Fresh water) और खारे-मीठे मिश्रित जल (Brackish water) की मछलियाँ। प्रस्तुत लेख हमारी लुप्तप्राय अन्तर्स्थलीय मत्स्यसम्पदा एवं उसके संरक्षण के औचित्य से सम्बन्धित है।

हमारे यहाँ अन्तर्स्थलीय मत्स्य संसाधनों के रूप में 29 हजार कि० मी० नदियों का अपार विस्तार, 14.47 लाख हेक्टेयर बड़े जलाशय (रिजर्वायर), 7.53 लाख हेक्टेयर के छोटे-बड़े तालाब (Tanks and ponds), 9.02 हेक्टेयर के खारे जल (Brackish water) एवं कच्छ दलदली वनस्पति क्षेत्र (Mangrove Swamps) तथा 10 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल के अन्य जलक्षेत्र (Beels, Oxbow lakes and derelict waters) उपलब्ध हैं। इसका उल्लेख ए० जी० झिंगरन एवं के० के० घोष ने 1978 में किया था। [देखें पुस्तक 'हैन्डबुक आन फिशरीज स्टैटिस्टिक्स' (अप्रैल 1986)]

वैज्ञानिक अवलोकनों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि विगत वर्षों में नदियों और बड़े जलाशयों में अन्धाधुन्ध अनियन्त्रित शिकार होता आया है। नदियों के कुछ क्षेत्रों का इतना गहन दोहन हुआ कि वहाँ की मत्स्यसम्पदा लुप्तप्रायसी है। कुछ वैज्ञानिकों ने अभी हाल के अपने अध्ययनों से स्पष्ट किया है कि गंगा नदी में प्रमुख शफर मछलियाँ (*Major carps*) और उनके अंडों की उपलब्धता से गोदावरी, कावेरी और चिलका सरोवर की मूल मत्स्यसम्पदा को गहरा आघात पहुँचा है (झिंगरन और घोष, 1978; झिंगरन, 1980; राव और राज्यलक्ष्मी, 1978; वी. जी. झिंगरन,

1982)। नदियों के ऊपरी जलक्षेत्रों में महाशेर मछलियों का तेज़ी से ह्रास होता गया है। अभी पिछले दशक तक नदियों में बहुतायत से मिलने वाली कई मत्स्य प्रजातियाँ अब दुर्लभ हो गयी हैं। टेंगन मछलियों की कई प्रजातियाँ हैं किन्तु उनकी प्रतिशत आनुपातिक उपलब्धता बुरी तरह प्रभावित हुई है। जैसे दरिआई टेंगर की एक प्रजाति (*Mystus seenghala*) की आनुपातिक उपलब्धता अच्छी है किन्तु उसकी तुलना में दूसरी प्रजाति (*Mystus aor*) की प्रतिशत उपलब्धता बहुत कम है। बेलौंद (*Mystus menoda*) विलुप्त होने के कगार पर है। लखनऊ में गोमती नदी में मत्स्य आरेचन (Depletion) की विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। कमोबेश यही स्थिति हर छोटी-बड़ी नदियों और सिंचाई विभाग के बड़े जलाशयों में उत्पन्न हो गयी है। इसका प्रमुख कारण मत्स्य-सम्पदा का अविवेकपूर्ण अति दोहन ही है।

एक उदाहरण लें। उत्तर प्रदेश में बुन्देलखण्ड का झाँसी मण्डल सिंचाई विभाग के जलाशयों की प्रचुर उपलब्धता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रदेश का लगभग 23 प्रतिशत जलक्षेत्र झाँसी मण्डल में विद्यमान है। यहाँ मत्स्य सेक्टर के प्रबन्ध में 63 छोटे-बड़े जलाशय हैं जिनका क्षेत्रफल 34583·61 हेक्टेयर है। यहाँ जलाशयों में मत्स्य प्रजातियों के "प्रजातिगत आनुपातिक उपलब्धता की आदर्श स्थिति" (An ideal state of balanced species ratio) नहीं रह गयी है। झाँसी के पहुँज जलाशय में 'कतला' का लोप हो गया है। सधरी प्रजातियों (*Puntius sp.*) की भरमार हो गयी है। व्यवसायिक दृष्टि से अन्य अवांछनीय (weed fishes) प्रजातियों जैसे कवई, कौआ, देबरी, चन्दा (*Anabas testudineus, Xenentodon cancila, Badis badis, Chanda nama* and *Chanda ranga*) की चरम बहुलता है। इसी तरह पारीक्षा जलाशय में बिडाल मत्स्य की एक जाति सिलन्द (*Silondia silondia*) की अति उपलब्धता है। लहचूरा में 'कतला' की सापेक्षिक उपलब्धता अधिक है। आशय यह कि जलाशयों में मत्स्य प्रजातियों की पारिस्थितिकीय साम्यावस्था (Ecological equilibrium) जैसी स्थिति नहीं रह गयी है। कारण स्पष्ट है, अवैध शिकार द्वारा मत्स्य प्रजातियों का अति दोहन और आवश्यकतानुसार बाहर से मत्स्य बीज संचय की अनिवार्यता का उल्लंघन। सीमित साधनों के चलते व्यावहारिक तौर पर अवैध मत्स्याखेट पर प्रभावी अंकुश लगा पाना दुष्कर हो गया है। मत्स्य-विभाग द्वारा जलाशयों में मत्स्य बीज संचय के वर्तमान नियमों में परिवर्तन पर विचार किया जा रहा है। वर्तमान नियमों के अनुसार जलाशयों में संचय का कार्य सम्बन्धित ठेकेदार को सितम्बर माह तक कराना होता है और उसके द्वारा ऐसा न करने पर मत्स्य विभाग द्वारा अक्टूबर में संचय कार्य कराने का प्रावधान है। किन्तु प्रतिवर्ष विडम्बना यही रहती है कि अक्टूबर तक मत्स्य बीज की उपलब्धता ही नगण्य हो जाती है। होना यह चाहिए कि मत्स्य-विभाग ही जुलाई-सितम्बर के मध्य जलाशयों में मत्स्य बीज का संचय कार्य अनिवार्य रूप से करा दे और प्रयुक्त धनराशि का समायोजन सम्बन्धित ठेकेदार की ज़मानत से कर लें।

मत्स्याखेट के लिए निर्धारित आकार के जालों का प्रयोग भी प्रायः नहीं किया जा रहा है। अधिकाधिक लाभ की मानसिकता के चलते ऐसे जालों का भी प्रयोग

चोरी छुपे किया जाता है जो एक समय में क्षेत्र विशेष की मत्स्यसम्पदा का समूल नाश कर देते हैं। अपरिपक्व प्रजनक मछलियों के अनियन्त्रित संहार से भावी मत्स्यसम्पदा को आघात पहुँचता है। इसके साथ ही, विष प्रयोग, विस्फोटकों एवं विद्युतीय मत्स्याखेट के नये प्रचलित हो रहे तरीकों से मत्स्यसम्पदा की व्यापक हानि हो रही है। तात्कालिक लाभ को सर्वोपरि मानकर किये जा रहे इन दुस्साहसी प्रयासों से सख्ती से निपटने की जरूरत है। सभी प्रदेशों में "मत्स्य आखेट अधिनियम" (Fisheries Act) लागू किया जाना और उसका कड़ाई से अनुपालन अपरिहार्य हो गया है।

मत्स्याखेट के बढ़ते दबाव के अलावा दूसरे भी कई प्राकृतिक और मानवजनित कारण हैं जिससे मत्स्य-भंडार को क्षति पहुँच रही है। नदियों में कृत्रिम रुकावटें व बाँधों का निर्माण कई प्रवासी मछलियों के यात्रा-मार्ग को अवरुद्ध करता है और साथ ही क्षेत्रीय मछलियों के प्रजननस्थलों के अस्तित्व को मिटा देता है। व्यवसायिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण 'हिलसा' का वर्तमान निर्यात इसका एक सटीक उदाहरण है। गंगा में फरक्का बाँध के निर्माण से हिलसा की ऊपरी जलक्षेत्रों तक प्रवास यात्रा बाधित हुई है। विगत दशक तक इलाहाबाद तक हिलसा का आरोहण भारी मात्रा में होता रहा किन्तु अब यह मछली इलाहाबाद के मत्स्यभोजियों को शायद ही देखने को नसीब होती हो। गोमती नदी में हिलसा के लखनऊ तक देखे जाने का उल्लेख मिलता है। लेकिन यह सब घटनायें अब किंवदन्ती का रूप लेने लगी हैं। (देखें—The Legend of Hilsa)

जलप्रदूषण के बढ़ते प्रकोप से मत्स्यसम्पदा भी आक्रान्त हो रही है। विगत वर्ष लखनऊ में गोमती नदी की हजारों क्विटल मछलियाँ चीनी के एक कारखाने और शराब कारखाने के गैर उपचारित बहि:स्रावों के कारण मर गयी थीं। उस समय बड़ा होहल्ला मचा किन्तु अब सब कुछ शान्त पड़ गया है। उद्योगों के लिए प्रदूषणनिवारक मानदण्डों का व्यावहारिक अनुपालन नहीं हो रहा है। सभी प्रदेशों से प्रदूषणजनित मत्स्य-विनाश की खबरें प्राय: आती रहती हैं। इन पंक्तियों को लिखते समय खबर मिली है ('द टाइम्स ऑव इण्डिया' 8 अक्टूबर 1987) कि हजारों की संख्या में सूरसागर झील (बड़ौदा शहर) की मछलियाँ मरी पायी गयीं। कुछ महीने पूर्व भी इसी तरह की घटना हो चुकी है। मत्स्यसम्पदा को विनष्ट करने वाले जलप्रदूषण की विविध किस्में हैं, जिनमें नगरीय मल-जल निपटान, औद्योगिक बहि:स्राव, कृषिजनित बहाव (कार्बनिक अपशिष्ट, रासाय-निक उर्वरक, कीटनाशी आदि), रेडियोसक्रिय उच्छिष्ट, भूमिक्षरण आदि एक कुशल दीर्घ-कालिक रणनीति के ज़रिये जलप्रदूषण के इन विभिन्न रूपों को दूर करने की महती आवश्यकता है।

वर्ष 1986 के अप्रैल माह में 'भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्' (आई० सी० ए० आर०) इलाहाबाद स्थित इकाई नेशनल ब्यूरो ऑव फिश जेनेटिक रिसोर्सेज़ (एन० बी० एफ० जी० आर०) ने एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी आयोजित की थी, जिसका मुख्य विचारबिन्दु ही भारत की मत्स्यसम्पदा के संरक्षण और कुशल प्रबन्धन से सम्बन्धित था। इसमें भाग लेने वाले मत्स्य-वैज्ञानिकों की आम राय थी कि मत्स्य सम्पदा के विशाल आनुवंशिक संसाधनों की पहचान, मानांकन और तदनुसार उनके

संरक्षण की फौरी आवश्यकता है (**झिंगरन ए० जी और गुप्ता आर० ए० 1986; झिंगरन ए० जी०, डी० कपूर और मेहता पी० सी० 1986**)। इसी गोष्ठी में प्रदूषण के विभिन्न स्वरूपों और मत्स्यसम्पदा के संरक्षण के औचित्य एवं तत्सम्बन्धी रणनीति पर भी शोधपत्र पढ़े गये थे। (**महन्ता पी० सी० और लाहून्त बी० 1986; लाल ए० के०, सरकार एस० के० और सरकार ए० 1986; कुमार धीरेन्द्र 1986**)। इन शोधपत्रों में आसाम की महत्वपूर्ण 'बील फिशरी' के संरक्षण, खड़गपुर झील में महाशेर (मछली) के निवेशन और संरक्षण, और छोटा नागपुर के जलक्षेत्रों में मांगुर मछलियों के यथास्थान (insitu) संरक्षण-संवर्धन की बात उठायी गयी थी। एक अन्य व्याख्यान में क्षेत्र विशेष की मछलियों की लुप्तप्राय स्थिति और उनके संभावित संरक्षण उपायों पर प्रकाश डाला गया (**सहगल, के० एल० 1986**)।

ग्रहण-मात्स्यिकी (Capture fishery) पर गहराते संकट को लक्ष्य कर वैज्ञानिकों ने इधर संवर्धन–मात्स्यिकी (Cultre fishery) पर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया है। नये वैज्ञानिक प्रयोगों और कुशल प्रबन्धन के जरिये मत्स्यसंवर्धन का असीम विस्तार संभव है। आनुवंशिक विधियों के सहारे व्यवसायिक महत्व की कई मत्स्य प्रजातियों की गुणवत्ता (स्वाद, उत्पादन, वृद्धि दर) बढ़ायी जा रही है। (**डेनियल चोऊरट, बर्नार्ड चेवेसस एवं रेने गुयोमार्ड 1987**)।

कई प्रदेशों के जनपदों में कार्यरत मत्स्य पालक विकास अभिकरण की योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों के तालाबों में उत्तम किस्म की मत्स्य प्रजातियों का संवर्धन किया जा रहा है। इस तरह संवर्धन-मात्स्यिकी का भविष्य तो उज्ज्वल लग रहा है किन्तु ग्रहण-मात्स्यिकी पर "ग्रहण" लगना आरम्भ हो गया है, जिसके 'मोचन' के लिये हमें अपनी रणनीति में त्वरित प्रभावी परिवर्तन करना होगा। □□

भूमिक्षरण

भूमिक्षरण की समस्या आज हमारे पर्यावरण की एक ज्वलन्त समस्या है। देश का 53 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र, जिसमें 175 मिलियन हेक्टेयर कृष्यभूमि, वन और दूसरी तरह की भूमियाँ शामिल हैं, भूक्षरण के चपेट में आ चुका है। एक अनुमान के अनुसार लगभग 6,000 टन मिट्टी जिसमें लगभग 8·4 मिलियन टन पोषक तत्व हैं, प्रति वर्ष नष्ट हो जाती है। 'केन्द्रीय मृदा एवं जल संरक्षण अनुसन्धान और प्रशिक्षण संस्थान' के अनुसार प्रतिवर्ष 2·40 टन से लेकर 112·50 टन मृदा प्रति हेक्टेयर की हानि होती है क्योंकि भूमि को इस्तेमाल करने के तरीकों में विभिन्नता होती है।

भूक्षरण द्वारा कटी हुई यह मिट्टी जल के साथ बहकर जलाशयों और नदियों में जाकर एकत्र होती रहती है और उसे उलथा बनाती है। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों पर इसका सर्वाधिक कुप्रभाव पड़ा है। साथ ही हमारी सरकार का भी ध्यान इस समस्या की ओर कम ही गया है। छठवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक मात्र 30 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र ही मृदा संक्षरण के अंतर्गत आ सके। आज इस बात की आवश्यकता है कि उचित प्रकार की फसलें उगाकर और अधिक से अधिक क्षेत्र पर वन लगाकर मिट्टी को इस प्रकार ढँक दिया जाये कि जिससे भूरक्षण पर नियंत्रण किया जा सके।

इक्कीसवीं सदी का कृषि पर्यावरण

प्रेमानन्द चन्दोला

हर पक्ष से इक्कीसवीं सदी में जाने की तैयारियाँ हो रही हैं। विज्ञान और टैक्नॉ-लोजी के क्षेत्र में दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही है। आज का वैज्ञानिक सच कल झूठा पड़ जाता है, हैरतअंगेज उपलब्धियों के कारण। इलेक्ट्रॉनिक, कम्प्यूटर, अंतरिक्ष आदि के क्षेत्र में जाने क्या-क्या गुल खिलते रहें। लेकिन उधर पर्यावरण और प्रदूषण की दिशा में चलते हुए हमारे द्वारा धनात्मक बदलाव लाया जाना आवश्यक है वरना हमारी खैर नहीं।

कृषि का क्षेत्र वह असली क्षेत्र है जो उदर-पूर्ति का साधन है और जिसके बिना जिन्दगी की गाड़ी जरा भी आगे नहीं चल सकती। यह भी परम सत्य है कि रसायनों और उर्वरकों का इस्तेमाल करते हुए अन्न-उत्पादन के लिए हम खेतों की मिट्टी का निरन्तर अधिक से अधिक दोहन करने में लगे हुए हैं। कृषि पर्यावरण की संतृप्ति होने पर एक ऐसी क्रान्तिक या चरम अवस्था भी तो आ सकती है कि खेत की माटी ही चीं बोल जाय। तब क्या होगा ? फिर हम क्या करेंगे ? इस पक्ष में क्या हमें संयम, विवेक और दूरदर्शिता से काम नहीं लेना होगा ? यह विषय अब अछूता नहीं रहा; इस पर भी प्रयोग हुए हैं और पंजाब के खेत इन प्रत्यक्ष अनुभवों के सूचक हैं, गवाह हैं।

वनों से ही कृषि उपजी और उसका विकास हुआ। पहले मानव जंगलों में ही रहता था। सभ्यता के साथ-साथ उसके द्वारा खेती के पहले प्रयोग जंगलों में ही हुए। मानव के तनिक सभ्य होने पर ही उसके दिमाग में अचानक बीजों वाला विचार आया। जंगलों में पके फलों और बीजों के गिरने पर जब उसने पौधों को उगते देखा तभी उसके दिमाग में कौंधा कि बीजों को इच्छित रूप से बोकर उनसे पौधे उगाये जा सकते हैं। और बस इस तरह कृषि का श्रीगणेश हो गया। तब से आज तक खेती की परम्परा पुराने और नए रूप में निरन्तर चल रही है।

खेती करते-करते मानव को शनैः-शनैः खेती सम्बन्धी नई-नई जानकारियाँ होती गईं। उसने देखा कि जहाँ पर गोबर या जानवरों का मल गिरा वहाँ पौधों की अच्छी वृद्धि हुई। शुरू में तो मिट्टी के पोषक तत्वों से पौधों का पोषण स्वतः होता रहा लेकिन जब उसमें पोषक तत्वों की कमी हुई तो मानव ने अनुभवी और समझदार बनकर खाद डालना शुरू कर दिया। खेती के प्रसंग में फिर यह उसका नियमित क्रम ही बन गया। उसे भली-भाँति यह ज्ञान हो गया कि जिस तरह मानव के शरीर के पोषण के लिए अन्न, सब्जियाँ, फल आदि जरूरी हैं उसी तरह भूमि और पौधों के पोषण के लिए भी खाद

ज़रूरी है। इस प्रकार कृषि में खाद वाला अध्याय सम्पूरक रूप से जुड़ गया। तब से अनिवार्य रूप से अब तक यह पद्धति चली आ रही है और बराबर निबाही जा रही है।

युगों के अनुसार खाद के प्रसंग में विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि खाद के रूप में पहले केवल गोबर का ही प्रयोग होता था। फिर गोबर, प्राणियों के मल-मूत्र तथा पत्तियों आदि को गड्ढे में सड़ा-गलाकर कम्पोस्ट बनाकर खेतों में इसका इस्तेमाल किया गया। ख़ास बात यह थी कि जैविक खाद से पौधे बढ़ते भी थे और मिट्टी प्राकृतिक बनी रहती थी तथा उसे कोई हानि नहीं पहुँचती थी। जैविक खाद में जीवाणु (बैक्टीरिया), फफूंदी आदि सूक्ष्मजीव भूमि को जीवन्त तथा गर्म बनाए रखते हैं और अपनी अभिक्रिया से खाद के पहलू से भूमि का सम्पूरण भी करते हैं। इस तरह कोई हानिकारक प्रभाव फसलों या मिट्टी पर नहीं पड़ता और भूमि में प्राकृतिक-चक्र सुचारु रूप से चलता रहता है। यह बात ज़रूर है कि पैदावार भले ही बहुत अधिक न हो पर भूमि सामान्य और प्राकृतिक बनी रहती है, और जैविक खाद की उत्तरोत्तर खपत से कम होते जाने वाले पोषक तत्वों की पूर्ति होती रहती है। यही नहीं, भूमि में पोषक पदार्थों का सन्तुलन बना रहता है और किसी भी तत्व की अति नहीं होती। पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में धीरे-धीरे लोगों ने गोबर आदि वाली प्राकृतिक खाद का इस्तेमाल भुला दिया और कृत्रिम रासायनिक उर्वरकों की ओर उन्मुख हो गए।

इस तरह बेसब्र और लोभी मानव रासायनिक कृत्रिम उर्वरकों (फर्टिलाइज़र) की ओर ललक गया और उसने सुविधानुसार अधिक पैदावार के लिए रासायनिक उर्वरकों को ही वास्तविक विकल्प मान लिया। अन्धाधुन्ध रूप से फैक्टरियों मे रासायनिक उर्वरकों का बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा और कृषि में केवल रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल ही फैशन बन गया। लेकिन रासायनिक उर्वरकों के इस्तेमाल से धीरे-धीरे भूमि में रसायनों का जमाव होने लगा और हर साल के इस्तेमाल से इनकी मात्रा में और बढ़ोतरी होती जाने लगी। इससे भूमि के अप्राकृतिक तथा प्रदूषित होने और रसायनों से सराबोर होकर संतृप्त होने की स्थिति आ गई। ये रसायन पानी के साथ भूमि में नीचे बैठकर और जमा होकर धीरे-धीरे अपना असर दिखला रहे हैं। यही कृषि-प्रदूषण है। भूमि में रसायनों और उर्वरकों के धीरे-धीरे जमा होते जाने से ही कृषि पर्यावरण में बदलाव आया है। खेती की दिशा में यह चौंकाने वाला महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

अतः ऊंचे स्वर में पुनः दोहरा दें कि गहन कृषि की आधुनिक रासायनिक विधियों के प्रयोग से कृषि पर्यावरण बिगड़ा है और भूमि का प्रदूषण बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है। यद्यपि पुरानी कृषि-पद्धतियाँ फसलों की उपज की दृष्टि से बहुत अधिक लाभकारी नहीं थीं, लेकिन खेती करने के हज़ारों वर्ष बाद भी कृषि भूमि की गुणता बनाए रखने के लिए वे उत्कृष्ट थीं। लेकिन आधुनिकता के चक्कर में उर्वरकों और पीड़कनाशी, जीवनाशी या पेस्टिसाइड सरीखे रसायनों के अनुप्रयोग पर आधारित गहन कृषि प्रणालियों से भूमि की परिस्थितियों में बिगाड़ आ गया है, जिससे अंततः वह फसल पैदा करने के नाक़ाबिल भी हो सकती है।

इस प्रकार की विषम परिस्थिति की गम्भीरता को समझने के लिए मान लीजिए कि एक खेत है, जिसमें उर्वरक के रूप में 'अमोनियम सल्फेट' का निरन्तर प्रयोग किया जाता रहा है। चूंकि अमोनियम आयनों की तो बाद वाली फसलों द्वारा भी लगातार खपत होती रहती है इसलिए इसके परिणामस्वरूप भूमि में सल्फेट आयन अत्यधिक मात्रा में बचे रह जाते हैं, और इस कारण भूमि अम्लीय या तेज़ाबी बन जाती है। एक दूसरे उर्वरक की मिसाल भी लिए लेते हैं, जैसे कि 'सोडियम नाइट्रेट' की। इसी तरह 'सोडियम नाइट्रेट' या 'पोटेशियम नाइट्रेट' सरीखे उर्वरकों के गहन उपयोग से स्पष्ट है कि भूमि में सोडियम अथवा पोटेशियम आयनों की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाएगी।

रासायनिक उर्वरकों के साथ यह भी एक शर्त है कि सिंचाई के लिए काफी अधिक पानी की ज़रूरत होती है। पर लम्बे समय के बाद यह पानी भूमि को बहुत अधिक लवणीय यानी खारी बना देगा और साथ ही फसल उगाने के अयोग्य भी। इसलिए ऐसा न होने देने के लिए शर्त यह है कि तदनुसार खूब सावधानियाँ बरती जायें। उदाहरण के लिए पंजाब के अनेक क्षेत्रों में उर्वरकों और पीड़कनाशियों के अंधाधुन्ध इस्तेमाल के कारण भूमि की सतही परत में लवण जमा हो गए हैं। कहा जा रहा है कि निश्चित बिन्दु के बाद अतिरिक्त उर्वरकों से फसल की उपज में कोई भी सुधार नहीं होगा। सचमुच ही यह स्थिति काफी कष्टकर रहेगी। कुछ विशेषज्ञ कहते हैं कि पंजाब के खेत संतृप्त होकर क्रान्तिक या चरम बिन्दु पर पहुँच रहे हैं। रसायनों का यही हृश्य देखने को मिल रहा है। लेकिन खेतों में रसायनों के ये कारनामे हमारे ही कारनामे हैं, हमारी ही नादानी के परिणाम हैं।

लेकिन यह सब हुआ ताबड़तोड़ कम समय और कम क्षेत्र में अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने की ख़ातिर। 1960 वाले दशक के आरम्भिक वर्षों में विभिन्न वैज्ञानिकों, सरकारी प्रशासकों और कृषि-विज्ञानियों ने कृषि सम्बन्धी विभिन्न संस्थाओं के सहयोग से ऐसी तकनीकों का विकास किया कि उनसे ज्यादा से ज्यादा कृषि उत्पादन हो। कुल मिलाकर यह तब हरित क्रान्ति के रूप में हमारे सामने आया। इससे हम अन्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर बन गए और हमें अन्य देशों का मुँह नहीं ताकना पड़ा। लेकिन एक दशक बाद चिन्ता में डालने वाले कुछ कुप्रभाव प्रकट होने लगे जिन पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक हो गया। साथ ही उपचार के उपायों को भी खोजना होगा।

संश्लेषित रासायनिक उर्वरक फ़सल के पौधों को उनकी जरूरत के हिसाब से बढ़ने व पनपने देने के लिए खनिज पदार्थों की अतिरिक्त आपूर्ति करते हुए उनकी मदद करते हैं, लेकिन पौधे इन सबका अधिक इस्तेमाल और खपत नहीं कर सकते। फिर होता क्या है कि बचे-खुचे नाइट्रेट वर्षा के साथ बहकर नदियों में पहुँच जाते हैं तथा ज़मीन से टपक कर व रिसकर नीचे बड़ी राशि में जमा होते जाते हैं और एक प्रकार की लुगदी के रूप में पेयजल की आपूर्ति में पहुँच जाते हैं।

खेती के काम से बचा रसायनों का यह घोल सतही पानी से एकदम मिल जाता है और नाइट्रेट स्तरों में वृद्धि करता रहता है। इससे उनकी सांद्रता बढ़ती जाती है, जो पेयजल को भी प्रभावित करती है। सतह के नीचे होते हुए नाइट्रेटों को भूमिगत जल से मिलने में काफी समय लगता है क्योंकि इनको चट्टानों और कठोर भूमि को पार करते

हुए एक या दो मीटर पहुँचने में प्रायः एक साल लग जाता है। पानी को यदि नीचे काफी अधिक गहरे पहुँचना है तो नाइट्रेटों को भूमि के नीचे पहुँचने में 50 साल तक लग सकते हैं। इसीलिए पर्यावरण-विज्ञानियों का कहना है कि वे दूसरे महायुद्ध के बाद से रासायनिक उर्वरकों के 'टाइम बम' का इंतज़ार कर रहे हैं—कि देखें उसका विस्फोट कब होता है ? लेकिन इस बीच योरोप के कृषि क्षेत्रों के नीचे उथले भूमिगत जल में नाइट्रेट के उच्च स्तरों का पता लग ही चुका है। द्रष्टव्य है कि नाइट्रेट के इन उच्च स्तरों की काट अधिक पानी वाले उपचार से या किसानों द्वारा उर्वरकों के अधिक इस्तेमाल में कमी करने से ही की जा सकती है। या फिर ये दोनों बातें ज़रूरी हो सकती हैं। जिन नाइट्रेटों को भूमि में पहुँचने में कई दशक लगे हैं उन्हें बाहर उलीचने में भी कई दशक लग सकते हैं। भीतर पहुँचे ये रसायन सालों तक मन्द-विष की तरह अपनी मार करते ही रहेंगे और इनसे मुक्ति पाना एक समस्या रहेगी।

वैज्ञानिक सार्वजनिक रूप से कैन्सर के संभावित ख़तरे की वजह से भी चिंतित हैं क्योंकि शरीर में होने वाली रासायनिक अभिक्रियाएँ नाइट्रेटों को ऐसे पदार्थों में परिवर्तित कर सकती हैं जो प्राणियों में कैन्सर पैदा करें। नाइट्रेट हमारे शरीर में सब्ज़ियों या हैम, बेकन और कुछ किस्म के पनीर सरीखे परिरक्षित खाद्य पदार्थों के माध्यम से भी पहुँच सकते हैं। भले ही इन बातों की पूरी तरह से पुष्टि न हो पर यह तो कहा ही जा सकता है कि भूमि को सामान्य व प्राकृतिक बनाए रखने के लिए, रसायनों की मार से बचने के लिए और रसायनों की प्रतिक्रियास्वरूप मानव में अनेक रोगों से बचने के लिए हमें भूमि में कम से कम रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल करना होगा और अगर करना भी पड़े तो सोच-समझकर मर्यादित रूप में।

फसलों की उर्वराशक्ति को सामान्य बनाए रखने के लिए हमें प्राकृतिक और जैविक खादों का अधिक उपयोग करना होगा और जहाँ तक हो सके रसायनों का उपयोग या तो बिल्कुल न किया जाय या फिर सावधानी बरतते हुए नाममात्र के लिए यानी संपूरण के लिए। तभी कृषि और कृषि-उत्पादों की दृष्टि से भूमि में शांतिदायक नैसर्गिकता बनाकर रखी जा सकती है। तभी कृषि पर्यावरण सामान्य, निर्मल और अप्रदूषित स्थिति में रखा जा सकता है। इक्कीसवीं सदी में पहुँचने के पहले हमें इस पहलू से परिमार्जन करते हुए कृषि पर्यावरण को सुधरी यानी पुरानी प्राकृतिक दशा में ले आना होगा। इस तरह अन्ततोगत्वा कृषि के सन्दर्भ में पुरानी अच्छी लीक पर लौटने पर ही बात बनेगी। रसायनों से अप्रभावित तथा निरापद कृषि पर्यावरण में ही हम बने रह सकते हैं। □□

आविषहीन पीड़कनाशी विकसित

भारतीय वैज्ञानिक **एम० एन० सुखात्मे** ने दावा किया है कि उन्होंने 'इंदिआरा' नामक विश्व का सर्वप्रथम आविषहीन पीड़कनाशी (पेस्टीसाइड) विकसित कर लिया है।

यह नया पीड़कनाशी लहसुन, अदरक और सरसों से तैयार किया गया है। इसको तैयार करने में साधारण किण्वन विधि का प्रयोग किया गया है। इसके लिए किसी यंत्र विशेष की आवश्यकता नहीं है। इसमें ताप की आवश्यकता भी नहीं है और इससे किसी प्रकार का प्रदूषण भी नहीं फैलता। नरायनगाँव, ओतुर, जुन्नार, टालीगाँव, कोल्हापुर और इन्दौर के किसानों ने इस 'इंदिआरा' नामक पेस्टीसाइड का खेतों में सफल प्रयोग किया है।

उपजाऊ मिट्टियाँ बर्बादी की ओर ?

डॉ० रमेशचन्द्र तिवारी

जलवायु, जल तथा भूमि जैसे प्राकृतिक प्रचुर साधनों का समुचित उपयोग करके पृथ्वी पर पाये जाने वाले जीवन को पर्याप्त भोजन, कपड़ा तथा निवास प्रदान करने का उत्तरदायित्व प्राचीन काल से ही मानव को दिया गया है। "भविष्य की खाद्य आपूर्ति आज के मृदा प्रबन्ध पर निर्भर है" (पेटरसन)। प्रसिद्ध मृदा वैज्ञानिक केलॉग (1957) ने मृदा प्रबन्ध की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा था, "संसार की कुछ मिट्टियाँ ही अब ऐसी हैं कि जिनसे अच्छा उत्पादन लिया जा सकता है, भोजन की समुचित आपूर्ति भूमि प्रबन्ध पर आधारित है।" अतएव भोजन, वस्त्र एवं आवास सामग्री के उत्पादन के लिए मानव जिस तरह से भूमि का उपयोग करता है उसे ही भूमि प्रबन्ध कहा जाता है।

यथार्थ यह है कि भूमि प्रबन्ध की ओर कोई गंभीरता से सोच ही नहीं रहा है। जिस वस्तु की बहुलता होती है उसकी उपेक्षा मानव-स्वभाव है। बूँद-बूँद जल का महत्व तब महसूस होता है जब जल-स्रोतों में जल का अभाव हो जाता है। भूमि जैसे प्रचुर प्राकृतिक साधन का कई तरह से दुरुपयोग किया जा रहा है। इससे भविष्य में जैव पदार्थ उत्पादन स्थिर हो जाएगा अथवा घटेगा और एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि मिट्टी भोजन,
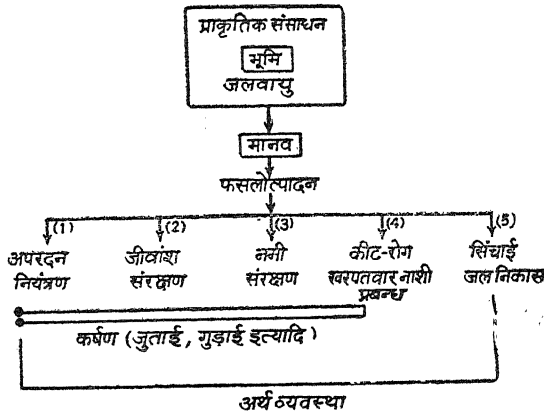
चित्र 1—भूमि प्रबन्ध के प्रमुख अवयव

वस्त्रादि उत्पादन के लायक ही नहीं रह पायेगी। चित्र 1 में दी गई रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि मानव सदियों से जल एवं भूमि जैसे अमूल्य प्राकृतिक साधनों को फसलोत्पादन के लिए प्रयोग करता आ रहा है। इसके लिए वह अपरदन नियंत्रण करके, जैविक पदार्थों का

एवं जल का संरक्षण करता है तथा कीट-व्याधि-घासपातनाशी तमाम रसायनों का उपयोग करके और सिंचाई तथा जलोत्सारण की सहायता से फसल उगाता है। इनमें प्रथम तीन प्रबन्ध घटकों को तो जुताई, निराई, गुड़ाई, मेड़बन्दी जैसे कार्यों के द्वारा फसल उगाने के लायक बनाया है तथा अन्तिम दो (4 एवं 5) के लिए उसे निवेश के रूप में भूमि में बाहर से लाकर डालना पड़ता है। दुर्भाग्य तो यह कि कृषक पाँचों कार्यों को वैज्ञानिक ढंग से सम्पन्न ही नहीं कर रहा है जिसके दो प्रमुख कारण हैं। पहला यह कि उसको तकनीकी ज्ञान नहीं है और दूसरे आर्थिक संकट के कारण वह घटिया एवं असंतुलित कार्यक्रम करता रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा कि एक ओर तो उसकी फसलोत्पादन प्रणाली चरमरा रही है, दूसरी ओर जल, वायु और भूमि का ह्रास एवं घटियापन उभरने लगा है।

भूमि संरक्षण कार्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधूरा व त्रुटिपूर्ण है, मृदाप्रदूषण बढ़ रहा है और उपजाऊ मिट्टी का अन्य कार्यों के लिए उपयोग कर लिया जा रहा है। जहाँ तक भूमि अपरदन का सम्बन्ध है, मिट्टी की बर्बादी का प्रमुख कारण यही है। जल एवं वायु के द्वारा मिट्टी की ऊपरी उपजाऊ सतह कट-बहकर तालाबों, नालों, नदियों को गाद से पाट रही है। उसमें उपस्थित पौधों के पोषक तत्व, खेत में डाले गए तमाम प्रकार के रसायन, मलमूत्र आदि अवशेष जल स्रोतों को प्रदूषित कर रहे हैं। जैसे-जैसे रासायनिक उर्वरकों को प्रचलन बढ़ता जा रहा है, जैविक खादों (कम्पोस्ट, गोबर, हरी खाद) का उपयोग घट रहा है। परिणामस्वरूप भूमि की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक दशा घटिया होती जा रही है। अन्धाधुन्ध फसलोत्पादन करने से भूमि की उर्वरता चरमरा गई है और उपज या तो स्थिर है अथवा घटती जा रही है। जंगलों को काटने, पशु चराई आदि से अपरदन एवं पौधों के पोषक तत्वों की हानि अनवरत बढ़ती जा रही है।

एक भ्रांति है कि थोड़ा ही अधिक जल प्रयोग करने से उपज बढ़ जाती है तो सिंचाई अधिक की जाय। उसके परिणामस्वरूप सभी सिंचित भूमियाँ वर्ष-दर-वर्ष या तो लवणीय हो रही हैं या ऊसरपन आता जा रहा है। बड़ी-बड़ी लिफ्ट पम्प योजनाएँ, सारदा सहायक, गंडक, गंगा की बड़ी नहर, यमुना नहर, भाकड़ा नहर, दामोदर घाटी, नर्मदा घाटी जैसी बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के कुप्रभाव स्पष्ट होने लगे हैं। इसका मुख्य कारण सिंचाई जल का कुप्रबन्ध है। ऐसे सभी सिंचित क्षेत्रों की मिट्टियाँ तेजी से बर्बादी की ओर जा रही हैं।

नहरें बनाने, सड़कों के निर्माण, उद्योग नगर बसाने, नगरों के विस्तार, कस्बों के आस-पास भवन निर्माण, मनोरंजन के लिए उद्यान आदि बनाने, कूड़ाकरकट एवं नगरों के अवशेषों से मिट्टी पाटने, ईंटे के भट्ठों की बाढ़ जैसे अजगरी रूप लेने वाले कार्य उपजाऊ मिट्टी के हज़ारों हेक्टेयर क्षेत्रफल को प्रतिवर्ष अपने में समेटते जा रहे हैं। भविष्य एक दिन बिना उपजाऊ मिट्टी के खाद्यान्न एवं वस्त्रादि के लिए छटपटा कर रह जावेगा। आँकड़ों की भूल-भूलैया में बिना डाले यह कहा जा सकता है प्रकृति एवं पर्यावरण के सबसे महत्वपूर्ण एवं अमूल्य अंग मिट्टी का घटियापन चारों ओर स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। यही कारण है कि पर्यावरण विशेषज्ञ, कृषि वैज्ञानिक एवं समाज के प्रति अपना उत्तर-दायित्व समझने वाले प्रशासक अब यह कहने लगे कि पहले यह नारा दिया जाता था

;'Save Oil" (तेल बचाओ) और अब कहा जाना चाहिए "Save Soil" (मिट्टी बचाओ) ।

प्रश्न यह उठता है कि इस बर्बादी से बचने के लिए क्या कोई समन्वित कार्यक्रम बनाया एवं क्रियान्वित किया जा सकता है । इसका उत्तर चित्र-2 में दी गई उस रूपरेखा से है जिसमें तकनीकी एवं वैज्ञानिक घटकों के प्रयोग से मिट्टी प्रबन्ध को सटीक व कारगर
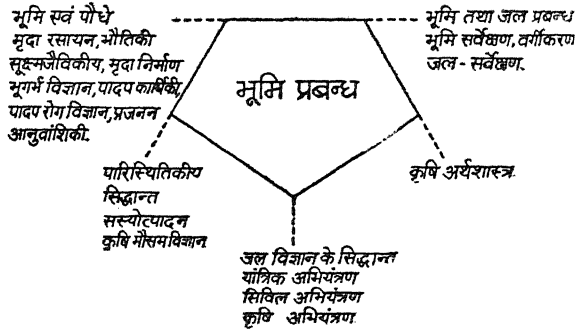
चित्र 2—भूमि प्रबन्ध प्रणाली के वैज्ञानिक एवं तकनीकी घटक

बनाया जा सकता है । इस अत्यन्त उपयोगी कार्य के लिए कृषि विशेषज्ञों (भूमि वैज्ञानिक, भू-वैज्ञानिक, पादप कायिकीय विशेषज्ञ, आनुवंशिकी एवं पादप प्रजनन विशेषज्ञ) को सबसे पहले एक साथ आगे आना चाहिए । भूमि को बिना और बर्बाद किए किस प्रकार उपयोग में लाकर जैव पदार्थों का उत्पादन किया जाय इस पर कार्य करना चाहिए । काफी सीमा तक तकनीकी उपलब्ध है । उसके समन्वित क्रियान्वयन की आवश्यकता है । जल अभियंत्रण से जुड़े अभियन्ता भूमिगत अथवा पृष्ठीय जल साधनों का सर्वेक्षण एवं उपयोग संतुलित बनाने पर कार्य करके तकनीक गाँवों तक पहुँचावें । यदि पर्यावरण विशेषज्ञ कृषि वैज्ञानिकों एवं अभियन्ता समुदाय को सही जानकारी व तकनीक देकर उनके साथ जुड़कर काम करें तो भूमि जैसे साधन की बर्बादी काफी हदतक रोकी जा सकती है । मौसम-वेत्ता केवल कृषि सम्बन्धी जानकारी से प्राकृतिक साधनों के समुचित उपयोग में हाथ बँटा सकते हैं ।

सबसे आवश्यक कार्यक्रम यह होना चाहिए कि भूमि उपयोग पर कानून बने कि उपजाऊ मिट्टी केवल कृषि उत्पादन के काम आवे न कि सड़क, भवन, उद्योग, उद्यान आदि के लिए । इसके लिए वैधानिक दण्ड की व्यवस्था की जानी चाहिए । उपजाऊ मिट्टी पर कूड़ाकरकट, मल-जल, सेप्टिक टैंक, उद्योगों के गंदे जल आदि का जमाव व निर्माण नहीं होने देना चाहिए । निर्माण कार्यों के लिए घटिया **किस्म की भूमि, जो** खेती योग्य बनने लायक न हो, का प्रयोग करना चाहिए । इससे दूर-दराज के क्षेत्रों का विकास होगा और कृषि योग्य भूमि बर्बादी से बच सकेगी । हम इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते कि "विकास, पर्यावरण को असंतुलित करता है, जबकि पर्यावरण असंतुलन विकास को ध्वस्त कर सकता है ।" □□

नॉनप्वाइंट प्रदूषण

अंबरीष तिवारी
उमेश सिंह

पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्य से पिछली एक शताब्दी से वैज्ञानिक तथा तकनीक विद्, औद्योगिक अपशिष्ट तथा नगरीय नालों में बहने वाले गंदे पानी की सफाई एवं नियन्त्रण के नये-नये तरीके खोज रहे हैं। एक सीमा तक प्रदूषण के इन स्रोतों पर नियन्त्रण भी प्राप्त किया जा चुका है, किन्तु बरसाती जल से उत्पन्न होने वाले प्रदूषण यथा—वर्षा का जल, जो नालियों / सड़कों पर स्वयं में गंदगी एवं कूड़ा समेटे बहता है अथवा खेतों में से **सतह-अपवाह** के द्वारा मृदा, कीटनाशी तथा उर्वरकों आदि की विभिन्न मात्राएँ अपने साथ लेता हुआ बहता है, प्रदूषण की दृष्टि से प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है। साधारणतया इस प्रदूषित जल को औद्योगिक अपशिष्ट अथवा नाले के प्रदूषित पानी (मल-जल) की सान्द्रता कम करने वाला माना जाता हैं। किन्तु यदि विचार किया जाये तो यह **अपवाह** स्वयं ही प्रदूषित रहता है। अतः प्रदूषण के इस प्रकार को **'नॉनप्वाइंट प्रदूषण'** (Non point pollution) की संज्ञा दी गयी है।

1960 के दशक के अन्तिम चरण तक 'नॉनप्वाइंट प्रदूषण' की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था किन्तु बाद में इसके महत्व को स्वीकार किया जाने लगा। और इस दिशा में खोज कार्य प्रारम्भ हुआ। साधारणतया प्रगति एवं विकास की सूचक माने जाने वाली निरन्तर धुँआँ उगलती चिमनियाँ, कोयला, धातु तथा अन्य सम्बन्धित तत्वों की खानें, तथा जुते हुए खेत एवं धुली हुई सड़क मार्ग ही नॉनप्वाइंट प्रदूषण के प्रमुख जनक/स्रोत होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नॉनप्वाइंट प्रदूषण से प्रत्यक्ष रूप से जल का प्रदूषण होता है तथा इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषतः खेतों पर पड़ता है। खेतों की सतह पर की **खनिजयुक्त मृदा** वायु तथा जल के साथ स्थानान्तरित होकर एक ओर तो मृदा हानि के द्वारा खेत की उर्वरता पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, वहीं दूसरी ओर यही मृदा बाँध के संग्रह-जलाशयों, नदी अथवा तालाबों की तलहटी में एकत्र होकर, इनकी जल-संग्रह-क्षमता को भी कम करती है। इतना ही नहीं, अपवाह जल के साथ बहकर आये हुए पौधों के लिये घातक पदार्थ मृदा में अधिशोषित होकर फसल के लिये विषाक्तता उत्पन्न कर देते हैं।

इस प्रकार का प्रदूषित जल जब मृदा के भीतर रिस कर पहुँचता है तो वह भौम-जल के गुणों को भी प्रभावित करता है। कभी-कभी तो नॉनप्वाइंट प्रदूषण से उत्पन्न कुप्रभाव अन्य प्रकार के प्रदूषणों की अपेक्षा कहीं अधिक घातक सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ—बड़ी झीलों की मछलियों में पॉलीक्लोरिनेटेड बाइफिनाइल का पाया जाना, अम्लीय वर्षा तथा जीवनाशियों का अपवाह जल में मिश्रण आदि।

ग्रामीण क्षेत्रों में नॉनप्वाइंट प्रदूषण के भिन्न-भिन्न स्रोत होते हैं। ये स्रोत प्रायः कृषि कार्यों से सम्बन्धित होते हैं अतः इन्हें कृषि-जनित प्रदूषण भी कहा जा सकता है। खेतों की जुताई के साथ ही इस प्रकार का प्रदूषण प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि मृदा की ठोस सतह के टूट जाने से मृदा के महीन कण वायु तथा जल के साथ बहना प्रारम्भ कर देते हैं। इसके बाद फसलोत्पादन में प्रयोग किये जाने वाले रसायन जैसे उर्वरक तथा जीवनाशी भी इस प्रदूषण के स्रोत का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त कई अन्य कारक भी ऐसे हैं जो स्थिर रहते हुए नॉनप्वाइंट प्रदूषण को बढ़ावा देते हैं। मृदा के प्रकार, जलवायु, कृषि प्रबन्ध तकनीकें तथा स्थलाकृति आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। ढालयुक्त भूमि में कृषि करने से इस प्रदूषण की मात्रा बढ़ती है तथा जंगलों, चारागाहों की भूमियों में, अर्थात् जहाँ वनस्पतियाँ उगी हों या मृदा वनस्पति से ढकी हो, नानप्वाइंट प्रदूषण न्यूनतम होता है।

नगरीय नॉनप्वाइंट प्रदूषण के स्रोत अनिश्चित तथा कुछ भी हो सकते हैं। नगरों में पाये जाने वाले पक्षी हों या पालतू पशु, गलियों सड़कों पर एकत्रित कूड़ा, सड़कों पर यातायात, सड़कों का ऊबड़-खाबड़ होना या इनके निर्माण का कार्य सभी नॉनप्वाइन्ट प्रदूषण बढ़ाने में अपना हाथ बटाते हैं। नगरों में होने वाले इस प्रदूषण में कभी-कभी अत्यधिक विषैले पदार्थ भी पाये जाते हैं। ये पदार्थ सीसा, जस्ता, ताँबा, एस्बेस्टस, पीसीबी (पॉलीक्लोरीनेटेड बाइफिनाइल्स), तेल, ग्रीज आदि हो सकते हैं।

साधारणतया नगरीय नॉनप्वाइंट प्रदूषण के स्रोतों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(1) आवासीय क्षेत्रों का प्रदूषण, जो कि उस क्षेत्र में घरों की गहनता पर निर्भर करता है, (2) औद्योगिक क्षेत्रों में छोटी औद्योगिक इकाइयों वाले क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कम प्रदूषण उत्पन्न होता है जबकि बड़े उद्योग जैसे चमड़े के कारखाने, इस्पात, उर्वरक तथा अन्य उद्योग ज़्यादा प्रदूषण फैलाते हैं। निर्माणाधीन भवन, सड़कें या अन्य स्थान सर्वाधिक प्रदूषण फैलाते हैं।

हमारे देश में नॉनप्वाइंट प्रदूषण से होने वाली हानि का ठीक से अध्ययन नहीं हुआ है। अतः इसका सही-सही अनुमान लगाना कठिन है। संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त कुछ आँकड़ों के आधार पर नॉनप्वाइंट प्रदूषण के विभिन्न स्रोतों द्वारा उत्पन्न प्रदूषण की मात्रा का अनुमान हो जायेगा।

सारणी

नॉनप्वाइंट प्रदूषण के स्रोत	अवसाद तलछट (मि० टन/वर्ष)	जैविक ऑक्सीजन की माँग मि० टन	नाइट्रोजन मि० टन	फॉस्फोरस मि० टन
कृषि भूमि	1700	8·2	3·9	1·42
चारागाह	1190	4·5	2·3	0·98
वन	232	0·73	0·35	0·08
निर्माण कार्य	179	—	—	—
खानें	54	—	—	—
नगरीय अपवाह	18	0·45	0·13	0·07
ग्रामीण सड़क परिवहन	2	0·004	0·0005	0 001
अन्य	2	0·33	0·178	0·033

उपरोक्त स्रोतों के अतिरिक्त कई अन्य स्रोतों के द्वारा भी नॉनप्वाइंट प्रदूषण को बढ़ावा मिलता है। फलस्वरूप अमेरिका में नॉनप्वाइंट प्रदूषण स्रोतों के द्वारा प्रतिवर्ष लगभग 4,527 मि० टन अवसाद, 18·8 मि० टन जैविक ऑक्सीजन मांग, 9·2 मि० टन नाइट्रोजन तथा 3·2 मि० टन फॉस्फोरस की हानि होती हैं।

भारत में भी नॉनप्वाइंट प्रदूषण की गम्भीरता पर विचार करना होगा। हमें इसके नियंत्रण के लिये अभी से उपाय करने होंगे। हमारे यहाँ पिछले दस वर्षों में मृदा अपरदन रोकने के भरसक प्रयत्न किये जा रहे हैं। किन्तु अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हुई है। मृदा अपरदन की इस प्रदूषण में प्रमुख भूमिका की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। पिछले दो दशकों में सड़क तथा भवन निर्माण के कार्यों में भी पर्याप्त तेजी आयी है जिसके कारण नॉनप्वाइंट प्रदूषण और अधिक बढ़ा है। कृषि के अतिरिक्त, निर्माण कार्य एवं औद्योगिक इकाइयों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या, प्रदूषण-नियन्त्रण अभिक्रियाओं के अभाव में लगातार नॉनप्वाइंट प्रदूषण के स्रोत के रूप में कार्य कर रही हैं। इस प्रदूषण के कारण भूमिगत जल के गुणों में पर्याप्त ह्रास आया है और कहीं-कहीं तो यह विषाक्तता के स्तर तक जा पहुँचा है। अतः यह आवश्यक होता जा रहा है कि नॉनप्वाइंट प्रदूषण के नियंत्रण हेतु समुचित एवं व्यावहारिक प्रयत्न किये जायें, जिनसे इस आने वाली भीषण समस्या का समाधान सरलतम ढंग से किया जा सके।

भूमि-संरक्षण बनाम नॉनप्वाइंट प्रदूषण

हो सकता है बहुतों को भूमि संरक्षण तथा नॉनप्वाइंट प्रदूषण एक ही सिक्के के दो पहलू लगें। कुछ हद तक यह सही भी है। हमारे देश में भूमि-संरक्षण विषयक प्रचुर आँकड़े प्राप्त हैं किन्तु प्रदूषण के परिप्रेक्ष्य में उनके मूल्यांकन की आवश्यकता है। नॉनप्वाइंट प्रदूषण इस मामले में व्यापक है कि इसमें नगरों तथा ग्रामों की भूमि को सम्मिलित किया जा सकता है जबकि भूमि संरक्षण विशेष रूप से कृषि भूमि के संरक्षण पर बल देती है।

□□

राइन नदी मर गई है

एक स्विस कारखाने में आग लगने से यूरोप की प्रसिद्ध नदी **राइन** के सुरक्षा अधिकारी **वाल्टर हरमन** के शब्दों में "राइन अब मर गई है। इसकी पूरी जीवन प्रणाली तबाह हो गयी है।" यह एहसास जब राइन नदी पर बसे हुए कई देशों के निवासियों को हुआ तो वे उत्तेजना और गुस्से से भरे हुए सड़कों और गलियों में उतर आये। कई फ्रांसीसी भाषी बस्तियों में दीवारों पर एक नारा लिखा गया 'चरनो बेले'। बेले फ्रांसीसी भाषा में बेसेल के कस्बे का नाम है, जहाँ से रूस की 'चेरनोबिल घटना' की तरह आस-पास के पर्यावरण और जीव-जन्तुओं के लिए मौत का पैगाम जारी हुआ। लगभग दस हजार लोग बेसेल शहर की गलियों में नारे लगाते हुए घूमने लगे और इस प्रकार अपने गुस्से का प्रदर्शन किया। आग बुझाने में लगभग तीस टन कीटनाशक पानी के साथ बहकर राइन नदी में चला गया।

गाँवों के लिये उपयुक्त तकनीक क्या हो ?

विजय जी

भारत गाँवों का देश है। यहाँ के करीब 6 लाख गाँवों में देश की आबादी के लगभग 77 प्रतिशत लोग रहते हैं। **महात्मा गांधी** सहित देश के सभी महान कर्णधारों ने बार-बार गाँवों के विकास पर ज़ोर दिया था क्योंकि गाँवबहुल भारत का विकास तब तक सम्भव नहीं जब तक गाँवों का विकास न हो। आज़ादी के बाद से अब तक यद्यपि गाँव विकसित हुये हैं, लेकिन यह विकास इतना एकांगी और शहरी ढर्रे पर हुआ है कि गाँव की मूलभूत विशेषताएँ भी लुप्त हो गयीं।

हर समाज और हर काल में विकास का मानदण्ड अलग-अलग होता है। आज के विकसित गाँव का मानदण्ड पिछली शताब्दियों के मानदण्ड से भिन्न होगा। गाँव के हर व्यक्ति को आज पौष्टिक भोजन, रहने के लिये साफ-सुथरा घर, स्वच्छ पेयजल, देश विदेश के समाचारों को जानने तथा मनोरंजन के लिये रेडियो, टी वी, अखबार, खेती के लिये उपयुक्त बीज, खाद, कृषि-यंत्र तथा ऊर्जा के पर्याप्त साधनों की ज़रूरत है। ये सुख सुविधाएँ तथा मूलभूत आवश्यकताएँ हर गाँव वाले को तभी मिल पायेंगी जब हर हाथ को काम मिलेगा। यदि गाँव के कुछ लोगों को ही ये सुविधाएँ उपलब्ध हैं, अधिकांश परम्परागत निर्धनता और बेकारी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तो ऐसे समाज को विकसित कैसे कहा जा सकता है।

भारत के सामान्य गाँवों की आज यही स्थिति है। मध्यम आकार के किसी गाँव में दो-चार लोग ही ऐसे मिलेंगे जिनके पास विकास के सारे साधन मौजूद मिलेंगे। उन्नत खेती के लिये आवश्यक यंत्र, कीटनाशक, बीज आदि का इस्तेमाल ये लोग ही कर पाते हैं। शेष अधिकांश लोग गरीबी और अभाव का जीवन जीने के लिये बाध्य हैं। अंग्रेज़ों के पूर्व गाँव का एक बहुत बड़ा वर्ग जो कृषि-आधारित उद्योगों पर निर्भर था, पहले तो अंग्रेज़ों की नीति फिर भारत सरकार की विकासवादी नीति के चलते रोज़गार से हाथ धो बैठा है। गाँवों के ऐसे करोड़ों लोग शहरों की ओर भागने के लिये बाध्य हुये। फलत: शहरों में विशाल मलिन बस्तियों के साथ-साथ अनेक तरह की समस्याएँ उत्पन्न हुईं।

गाँवों के इस असमान और एकांगी विकास के लिये यदि हम जिम्मेवार कारकों की खोज करें तो इसके मूल में हमें तकनीक (टेक्नॉलोजी) ही मिलेगी। विकास के लिये तकनीक चाहिये। लेकिन बिना सोचे-समझे अनुपयुक्त तकनीक के उपयोग से समस्याएँ तो उत्पन्न होंगी ही। भारतीय गाँवों के सन्दर्भ में कुछ ऐसा ही हुआ।

आधुनिक विज्ञान का बहुत बड़ा भाग पश्चिमी देशों की देन है। पश्चिमी देशों ने अपनी आवश्वकताओं के अनुरूप तकनीकें विकसित कीं। उन तकनीकों के उपयोग से उनका

जीवन-स्तर ऊँचा हुआ। वैज्ञानिक जानकारी और शोध के लिये भारत पश्चिमी देशों पर निर्भर रहा है। पश्चिमी समाज की सुख-सुविधा सम्पन्न जीवन की ओर भी भारतीय आकर्षित हुये। ऐसी परिस्थिति में पश्चिमी देशों में विकसित तकनीकों को उसी रूप में भारत में आयात किया जाने लगा। खान-पान, रहन-सहन, मनोरंजन, खेती, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में आयातित तकनीकें फलने-फूलने लगीं। पश्चिम में विकसित तकनीकें जब भारत में फलने-फूलने लगीं तो सामाजिक परिवर्तन की गति भी तेज़ हुई। एक तरफ परम्परागत और धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सहयोग के मूल्यों पर आधारित समाज, दूसरी ओर अत्याधुनिक, भोगवादी और भौतिकता वाले मूल्यों पर आधारित समाज।

पश्चिम के देशों में पूँजी की अधिकता और जनसंख्या की कमी रही है। फलतः वहाँ जो मशीनें बनायी गयीं उनमें लागत अधिक आती तथा रोज़गार कम लोगों को मिलता। ठीक इसी दर्शन पर विकसित तकनीक को अपने देश में अपनाए जाने पर देश की पूँजी का बहुत बड़ा हिस्सा कल-कारखाने और विशाल परियोजनाएँ हड़प गयीं, लेकिन काम बहुत कम लोगों को ही मिल पाया।

आधुनिक खेती के लिये जिन कृषि-यंत्रों, कीटनाशकों, उर्वरकों तथा उन्नत बीजों की सलाह दी गयी वे आम गाँववालों की आयसीमा के बाहर थे। गाँव के वे दो-चार लोग ही उन्नत तकनीक अपना पाये जिनकी आमदनी के स्रोत खेती के अलावा भी थे। फलतः ये अपेक्षाकृत धनी लोग और भी धनी होते गये तथा निर्धन लोग और भी निर्धन होते गये।

पश्चिमी सोच पर विकसित तकनीकों ने गाँवों में अनेक पर्यावरणीय संकट भी पैदा किये। जो विशाल बाँध तथा पन-बिजली योजनायें चालू की गयीं उनका एक उद्देश्य गाँवों का विकास तथा सिंचाई करना भी था। लेकिन इन योजनाओं ने गाँवों एवं वन क्षेत्रों को लाभ के साथ-साथ भारी हानि भी पहुँचायी। जिन जगहों पर बाँध बनाए जाते हैं वे अधिकतर जंगली क्षेत्र होते हैं। यहाँ वनक्षेत्र का एक बहुत बड़ा भाग डूब क्षेत्र में आ जाने के कारण वहाँ की वनस्पतियाँ और वन्यजीवन नष्ट हो जाते हैं। बड़े बाँधों से निकाली गयी विशाल नहरों से जलभराव, रिसन और ज़मीन के खार बनने की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उन सिंचाई योजनाओं के चलते देश की करीब 70 लाख हेक्टेयर ज़मीन खार तथा 60 लाख हेक्टेयर ज़मीन जलभराव की शिकार हुई है। देश के कई हिस्सों में इन योजनाओं के खिलाफ़ आन्दोलन भी हुए हैं। जैसे होशंगाबाद में तवा परियोजना के खिलाफ़ 'मिट्टी बचाओ आन्दोलन'।

बड़े और केन्द्रीकृत उद्योगों ने गाँवों में चले आ रहे परम्परागत उद्योग-धन्धों को निगल लिया और गाँवों की बहुत बड़ी आबादी शहरों की ओर भागने के लिये बाध्य हो गयी। रोटी के बाद कपड़े का स्थान आता है। कभी गाँवों में खेती के बाद संभवतः सबसे अधिक लोग वस्त्र व्यवसाय में काम पा रहे थे। कपड़े बनाने की विशाल मिलों की स्थापना के बाद ये व्यवसाय सूखने लगे। 'खादी ग्रामोद्योग' ने उस क्षेत्र में कुछ काम अवश्य किया है लेकिन वह भी सरकार की बैसाखी पर। यदि सरकार खादी के कपड़ों पर दी जाने वाली सब्सिडी बन्द कर दे तो रहा-सहा वस्त्र-उद्योग भी दम तोड़ देगा।

इसी तरह कुम्हारों के व्यवसाय को प्लास्टिक-उद्योग ने चौपट किया। प्लास्टिक-उद्योग का असर मोचियों पर भी हुआ। प्लास्टिक की रस्सी और टोकरी के आ जाने से इन व्यवसायों में भी लगे गाँव वाले बेकार हो गये। खेती के मामले में ट्रैक्टर, थ्रेशर जैसी बड़ी मशीनों के आ जाने से बहुत बड़ी संख्या में खेती पर आश्रित मजदूर बेकार हो गये।

तकनीक कभी भी दोषी नहीं होती। दोषी उसका उपयोगकर्त्ता होता है। किस समाज और परिस्थिति में कौन तकनीक उपयुक्त होगी उसके चुनाव का विषय ही सबसे महत्वपूर्ण होता है। तकनीक लागू करने के पूर्व इस बात का विधिवत सर्वेक्षण और अध्ययन हो जाना चाहिये कि इससे बेकारी और पर्यावरणीय संकट तो उत्पन्न नहीं होंगे। आज ट्रैक्टर गाँवों में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। लेकिन यह भी सच है कि इसका उपयोग थोड़े से लोग ही कर पा रहे हैं। परिणामस्वरूप गाँव का एकांगी विकास हो रहा है। यदि इस ट्रैक्टर को गाँव में लाने के पूर्व ही कोई ऐसा ट्रैक्टर बनाया गया होता जो अपेक्षाकृत कम कीमत का और छोटा होता तो गाँव के ज्यादा लोग उसे खरीद पाते, ज्यादा लोगों को काम पर लगाया जाता तथा ट्रैक्टर की मरम्मत, रखरखाव आदि के लिये ज्यादा मिस्त्रियों की जरूरत होती।

वास्तव में हमारे देश को न तो परंपरागत पिछड़ी तकनीक की जरूरत है और न पश्चिमी नकल पर आधारित उच्च तकनीक की। यहाँ की परिस्थिति तो माध्यमिक (बीच की) तकनीक के लिये उचित है। और यह माध्यमिक तकनीक परंपरागत तकनीक में संशोधन से प्राप्त की जा सकती है। कई क्षेत्रों में जहाँ वैज्ञानिकों ने प्रयास किया है, उन्हें सफलता भी मिली है।

उदाहरणस्वरूप सूत कातने के लिये परंपरागत यन्त्र तो **चरखा** था, जिसमें एक पूनी से एक सूत निकलता था। काफी पहले ही इसमें सुधार करके **अम्बर चरखा** बनाया गया था। अब इसमें भी संशोधन करके 12 और 14 तकुए वाले **अम्बर चरखे** बनाये जा चुके हैं, जो पैर-चालित तथा पावर-चालित हैं। भारतीय परिस्थितियों के लिये आज पावर-चालित ये चरखे अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं। कम पूँजी में इनसे अधिक से अधिक लोगों को काम दिया जा सकेगा तथा इनसे किसी तरह के प्रदूषण का कोई ख़तरा भी नहीं है।

देश के कई तकनीकी संस्थान आजकल गाँवों के लिये उपयुक्त तकनीक की खोज में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। 'इंस्टीट्यूट ऑव इंजीनियरिंग एण्ड रूरल टेक्नॉलोजी, इलाहाबाद' ने पवन चक्की, सोलर कुकर, सोलर स्टिल, लो-लिफ्ट पम्प, सोलर वाटर हीटर, गोबर गैस संयन्त्र आदि ग्रामोपयोगी तकनीकें विकसित की हैं। 'दीन दयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली' ने बैल चालित पम्प सेट, बान-मशीन, पैर-चालित सीलिंग पंखा, बांस निर्मित नलकूप जाली, बुआई यंत्र आदि बनाकर परंपरागत कृषि-यंत्रों में महत्वपूर्ण सुधार किये हैं। 'नेशनल रिसर्च डेवलपमेंट कारपोरेशन ऑव इंडिया, नई दिल्ली' इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। 'एन० आर० डी० सी०' के पास ग्रामोपयोगी एवं लघु उद्योगों से सम्बन्धित तकनीकी नोट्स उपलब्ध हैं। ये तकनीकी नोट्स विभिन्न शोध संस्थानों द्वारा उपलब्ध कराये जाते हैं। एन० आर० डी० सी० विज्ञापन द्वारा इन लघु उद्योगों की

सूची प्रकाशित करता है। इच्छुक व्यवसायी चुने हुये उद्योगों के सम्बन्ध में एन० आर० डी० सी० से जानकारी माँगते हैं। एन० आर० डी० सी० इच्छुक व्यवसायी को प्रारंभिक तकनीकी नोट्स भेजता है, लाभ-लागत आदि का आँकड़ा भेजता है तथा व्यवसायी को मूल शोध संस्थान से प्रशिक्षण लेने के लिये लिखता है। 'खादी ग्रामोद्योग' भी देश भर में अपनी लाखों शाखाओं द्वारा ग्रामोपयोगी उद्योग-धन्धों जैसे साबुन बनाना, शहद का काम, कपड़े बनाना, जूते-चप्पल का काम, घानी का काम आदि के प्रशिक्षण और व्यवसाय की व्यवस्था करता है। भोपाल स्थित 'साधन विकास संस्थान' ने मिट्टी के काम में महत्वपूर्ण खोजें की हैं। यहाँ मिट्टी से सोलर कुकर, निर्धूम चूल्हे, बायोगैस संयंत्र, मिट्टी के रिंग से कुआँ, मिट्टी से जल-मल निकास, सेप्टिक टैंक, अनाज भण्डार, नये ढंग की सस्ती ईंटों आदि का विकास किया गया है।

विलंब से ही सही, लेकिन ज़मीन से जुड़कर की जा रही उपरोक्त खोजें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि इनके रखरखाव और निर्माण के लिये न तो बहुत बड़ी पूंजी की ज़रूरत होगी और न बड़े कारखाने बनाने पड़ेंगे। लेकिन इस तरह के अधिकांश शोध अभी भी शैशव अवस्था में हैं। जहाँ शोधकार्य पूर्ण हो गये हैं, उन तकनीकों को गाँवों में फैलाने वाली एजेन्सियों का अभाव है। एक ख़तरा और है, यदि एक ही कार्य के लिये दो तरह की तकनीकें उपलब्ध हैं। एक लघु-उद्योग वाली और दूसरी बड़े कारखानों वाली तो इतना निश्चय है कि बड़े कारखानों की तकनीक के सामने लघु-उद्योग की तकनीक विफल हो जायेगी। लघु-उद्योग की तकनीक को बढ़ावा देने के लिये उसका क्षेत्र सुरक्षित करना पड़ेगा तथा उसे विशेष प्रोत्साहन देना होगा। उदाहरणस्वरूप बाज़ार में उपलब्ध अधिकांश साबुन, बहुराष्ट्रीय कम्पनी 'हिन्दुस्तान लीवर' द्वारा उत्पादित हैं। अब यदि उसी बाज़ार में लघु-उद्योग का साबुन बेंचा जायेगा तो वह कैसे टिक पायेगा ?

गाँवों का सर्वांगीण विकास तभी संभव है जब सरकार और गाँव वाले दोनों उपयुक्त तकनीक की बात करें। सरकार गाँवों के लिये उपयुक्त तकनीक उपलब्ध कराये इसके लिये गाँवों का सरकार पर दबाव बढ़ना चाहिये। विशाल कारखानों और केन्द्रीकृत उद्योगों वाली तकनीक कभी भी गाँवों का सर्वांगीण विकास नहीं कर सकती। □□

पर्यावरण विधेयक काफी नहीं

19 नवम्बर 1986 को केन्द्रीय सरकार ने पर्यावरण संरक्षण के नये कानून सख्ती से लागू करने की घोषणा की। पर्यावरण मंत्री भजनलाल ने कहा कि कानून में हवा, पानी, ज़मीन और जंगलों के लिए आधुनिक उद्योगों, शहरी मल और कचरे तथा अनियमित कटान से पैदा होने वाले सभी ख़तरों पर पाबन्दी लगा दी गई है। इस कानून के अनुसार सही पाये जाने पर ही प्रदूषण फैलाने वाले कारखाने चालू करने की अनुमति दी जायेगी। मौजूदा कारखानों में ऐसे उपकरण को ज़रूरी माना जायेगा जिनसे हवा या पानी में जहरीले पदार्थों की मात्रा कम हो, लेकिन इसे कारखानों, खानों, जंगलों, नदियों और नगरों की ठोस ज़मीन तक उतारने के लिए मज़बूत इरादे की ज़रूरत है। इसके लिए विकास की नयी सोच चाहिए।

2000 ई० में कृषि का स्वरूप

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

भविष्यवाणी सदैव "होने वाले" को बताती है, वह यह नहीं बतलाती कि "क्या होना चाहिए।" कृषि का स्वरूप क्या होगा यह तो वैज्ञानिकों, धर्मविदों एवं राजनीतिज्ञों के मध्य होने वाली बहस से ही स्पष्ट हो सकता है। किन्तु इसके पूर्व कि कोई भविष्य-वाणी की जाय यह मानना होगा कि निकट भविष्य में कोई महायुद्ध नहीं होगा और न ही कोई सामाजिक उथल-पुथल होगी। साथ ही यह भी कल्पना करनी होगी कि मनुष्य के क्रिया-कलापों से विश्व की जलवायु में परिवर्तन नहीं आवेगा और दवाओं के प्रयोग से मनुष्य की क्षुधा कम नहीं होगी। यह सत्य है कि यदि कृषि असफल हो जाय तो भुखमरी फैलेगी और लोग क्रान्ति कर देंगे। ऐसी दशा में आइये हम उस समग्र ऊर्जा के विषय में विचार करें जो कृषि को प्रभावित कर सकती है।

1974 ई० में "केमिकल सोसाइटी" की एक गोष्ठी में यह विचार व्यक्त किया गया था कि तेल के भण्डार 2000 ई० तक चल जावेंगे अतएव अधिकांश कृषीय रसायनों के उत्पादन में कोई फेर-बदल नहीं होगा। किन्तु कृषि में ऊर्जा का प्रयोग कई मदों पर होता है—यथा मशीनरी, पेट्रोल, उर्वरक, कृषीय रसायन आदि। इसमें सन्देह नहीं कि कोयला, तेल तथा प्राकृतिक गैस से कृषि की ऊर्जा-आवश्यकताएँ पूरी होती रहेंगी, किन्तु यह तो विकसित देशों की बात हुई। भारत जसे विकासशील एवं तृतीय विश्व के देशों में ईंधन, फसलों के अपशिष्ट, कन्डे के साथ-साथ मानवीय ऊर्जा तथा पशु-ऊर्जा का प्रयोग होता रहेगा। विदेशों में कृषि के विभिन्न मदों में प्रयुक्त ऊर्जा से निर्गत ऊर्जा का अनुपात ज्ञात किया गया तो पता चला कि गेहूँ में यह अनुपात 3, आलू में 1.3, दूध में 0.7 होता है। स्पष्ट है कि सूर्य से प्राप्त ऊर्जा का कितना अधिक अपव्यय होता है।

अभी ऊर्जा संकट उत्पन्न नहीं हुआ है। हाँ, ऊर्जा की कमी है जिससे ऊर्जा की असली लागत में दुगुनी वृद्धि हो जावेगी। इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव होगा कि बेरोज़गारी बढ़ेगी। गैसोलीन के मूल्य में वृद्धि होने से मध्यपूर्व के तेल-समृद्ध देशों में सारी सम्पत्ति सिमट जावेगी। ऐसी सम्भावना है कि पाश्चात्य देशों में छोटे-छोटे शहर बसें, अधिक लोग गाँवों में चले जायें और वहाँ खेती करने लगें। बेरोज़गारी इस हद तक पहुँच सकती है कि नौजवानों को खेतों में कार्य करने के लिए लगाना पड़ सकता है।

ऊर्जा की कमी होने से कई प्रकार के प्रभाव देखे जा सकेंगे। एक होगा खेती के लिए ऊर्जा पर राशन (नियन्त्रण)। जिस तरह मध्यपूर्व से तेल आपूर्ति के परिसीमन से पेट्रोल राशनिंग हो सकती है, मोटरकारों की गति पर नियन्त्रण हो सकता है उसी तरह खेती के लिए ऊर्जा पर राशनिंग हो सकती है। लेकिन ऐसा सोचना व्यर्थ है क्योंकि खेती पर व्यय कुल ऊर्जा सम्पूर्ण खपत का अत्यल्प अंश है। ऊर्जा के बढ़े दाम तथा जनता द्वारा सस्ते भोजन की माँग से स्वतः संयम लग जावेगा। यदि आप जनता से कहें कि रोटी

खावो, टमाटर नहीं, तो वह आपकी बात नहीं सुनेगी किन्तु जैसा कि प्रारम्भ में ऊर्जा अपव्यय के प्रसंग में कहा जा चुका है, यह तथ्य है।

आइये, अब कृषि में ऊर्जा की समस्या पर एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया जाय। क्या ऐसा सम्भव नहीं होगा कि गहन कृषि की ऐसी विधि निकाली जाय जिससे ऊर्जा के नये स्रोत तथा पुनर्नवीकरणीय कच्चा माल प्राप्त करके रासायनिक उद्योगों को चालू रखा जाय? तर्क करने से पता चलता है कि प्रकाशसंश्लेषण विधि सौर ऊर्जा के उपयोग की अत्यन्त सक्षम विधि है। तो फिर क्यों नहीं हम गहन कृषि पद्धति का ईजाद करें जो प्रकाश ऊर्जा का सदुपयोग कर सके। तेलों का उत्पादन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। यही नहीं, उष्ण प्रदेशों में खेती से बचने वाले अवशेषों से ऊर्जा-उत्पादन की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाई जा रही हैं। इनमें विद्युत उत्पादन प्रमुख है। किन्तु स्मरण रहे कृषि में परिवर्तन अत्यन्त मन्द गति से आता है। खेती करने वाले किसी नये आविष्कार को परख कर देखना चाहते हैं, तभी आगे कदम भरते हैं।

ऊर्जा की तंगी से खेती में विशिष्ट परिवर्तन आ सकते हैं। यथा (1) परम्परागत जुताई के स्थान पर शाकनाशी (herbicide) छिड़ककर ड्रिल द्वारा जुताई—इससे भूमि क्षरण में कमी आवेगी। ऐसा अनुमान है कि 2000 ई० तक विश्व भर में 5 लाख टन शाकनाशी रसायनों का प्रयोग हो सकेगा। तब तक उर्वरकों के उत्पादन में ऊर्जा की कम मात्रा लगेगी और सम्भावना है कि अन्य नवीन विधियाँ खोज निकाली जायँ। तब तक कुछ पौधों की प्रजातियों को अपना नाइट्रोजन स्थिर कर सकने में समर्थ बनाया जा सकेगा। हो सकता है तब तक पशु रद्दी कागज़ खाकर बसर करें क्योंकि उनके अग्र आमाशय में अनेक जीवाणु रहते हैं। तब तक अधिक सक्षम उर्वरक विकसित हो सकेंगे—उदाहरणार्थ सल्फर-लेपित-यूरिया तथा नाइट्रीकरण-निरोधक रसायनों की खोज से ऐसी आशाएँ बँधने लगी हैं।

भविष्य में गहन कृषि के फलस्वरूप नाशीजीवों के आक्रमण की सम्भावना बढ़ने से जीवनाशियों के उपयोग में वृद्धि होगी किन्तु जीवनाशियों की कुल प्रयुक्त मात्रा में ह्रास आवेगा क्योंकि अधिक वरणात्मक, अधिक घातक जीवनाशी विकसित हो चुकेंगे।

तब तक कोयले से मेथेनाल और इस मेथेनाल से जीवाणुओं द्वारा संश्लिष्ट प्रोटीन उत्पन्न किया जा सकेगा। यह प्रोटीन उत्तम भोजन सिद्ध होगा। सम्भावना है समुद्री तरंगों की ऊर्जा का दोहन करके तथा नाभिकीय शक्ति केन्द्रों के अपशिष्टों से समुद्रों को गरम बनाकर समुद्र के भीतर मछली की खेती की जा सकेगी।

कृषि में रसायन विज्ञान के उपयोग से ऐसी आशा की जाती है कि 2000 ई० तक खाद्य के उत्पादन तथा उसकी आवश्यकता में सन्तुलन बना रहेगा। साथ ही धनी और निर्धन के बीच की खाई पटेगी। यह सब ऊर्जा की कमी के कारण ऊर्जा बचत एवं स्थिति-जन्य प्रयासों से उत्पादन में वृद्धि होने से सम्भव होगा। किसान को इस कहावत के अनुसार जीवनयापन करना होगा "रहो इस तरह कि तुम्हें कल मरना है, किन्तु खेती करो ऐसे मानो तुम्हें सदैव खेती करनी है।" □□

पर्यावरण-प्रदूषण से हमारे पूर्वज भी सावधान थे

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

हमारा जीवन पर्यावरण की शुद्धता पर निर्भर है, यह बात हमारे पूर्वजों को अच्छी तरह से मालूम थी। वृक्ष या वनस्पति, जल और नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं के समान सहयोग से अथवा दूसरे शब्दों में हम कहें कि उनके समानुपातिक अस्तित्व से ही पर्यावरण शुद्ध रक्खा जा सकता था। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने सभी जीव-जन्तुओं के प्रति अहिंसा और प्रेम का मार्ग दिखलाया था। और तो और, अहिंसा को जीवन का परम धर्म स्वीकार किया गया था—अहिंसा परमो धर्मः।

हमारे ऋषि-मुनियों ने वर्षों के चिन्तन-मनन के उपरान्त उपनिषदों में जिस अहिंसा का मंत्र दिया उसे ही आगे चलकर **मौर्य सम्राट् अशोक** और **महात्मा गांधी** ने अपनाया। **मौर्य** सम्राट् अशोक ने **बौद्ध** धर्म से प्रेरित होकर अहिंसा का उपदेश अपने शिलास्तम्भों पर उत्कीर्ण धर्मलेखों में अंकित करवाकर राज्य के उन चतुष्पथों (चौराहों) पर स्थापित करवाया था जिनसे गुजरने वाले उसके प्रजाजन उसे पढ़ें और पढ़कर अपने जीवन में अमल करें। अपने एक लेख में उसने एक छोटा-सा उपदेश दिया था—'अनारंभो प्राणानां अविहीसा भूतानां,' अर्थात् प्राणियों का वध और उनकी हिंसा न करें, चोट न पहुँचाएँ। क्योंकि धर्म का पालन इसी में है। अशोक ने जीव-हिंसा को रोकने के लिए अपनी राज-रसोई में नित्य पकने वाले जीव-जन्तुओं के मांस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, जिससे प्रजाजनों को दावत दी जाती थी। राजा ने केवल उपदेश ही नहीं दिया था, अपितु उसने स्वयं अपना उदाहरण भी प्रस्तुत किया था और इसीलिए स्वयं राजा ने भी मांस-भक्षण बन्द कर दिया था। पहले राज-परिवार के लिए प्रतिदिन दो मृगों और एक हिरन के मांस को पकाया जाता था। इतना ही नहीं, अशोक ने अपने राज्य में प्रत्येक माह की प्रतिपदा, अष्टमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पंचदशी तथा चौमासे के सुदिनों में विभिन्न पशु-पक्षियों और मछलियों के शिकार पर प्रतिषेध लगा दिया था। इससे भी जीवहिंसा में कमी आयी थी।

प्रकृति में प्रदूषण जीव-जन्तुओं की हत्या से भी होता है, यह तथ्य भी हमारे पूर्वजों को ज्ञात था। इसीलिए उन्होंने पशु-हत्या पर भी कठोर प्रतिबन्ध लगाए थे। पशु-हत्या को पाप ठहराते हुए 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में कहा गया है कि पालतू पशु की हत्या करने वाले को उतने दिनों तक घोर नरक की यातना भुगतनी पड़ती है जितने रोयें (बाल) उस पशु के शरीर पर होते हैं—

वसेत् सः नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः।
संमितानि दुराचारो यो हंत्यविधिना पशून्॥

राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित चाणक्य ने भी पशु-पक्षियों की हत्या करने वालों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था अपने जगत-प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में दी है। उन्होंने कहा है कि—"सरकार की ओर से जिनके न मारे जाने की घोषणा कर दी गई है और जो अभयारण्यों में अथवा ऋषियों के निवास-स्थान के वनों में रहते हैं ऐसे मृग (हिरन आदि), पशु, पक्षी और मछलियों को जो पुरुष पकड़े या उन पर प्रहार करे अथवा उन्हें मार डाले, (सरकारी अधिकारी) सूनाध्यक्ष उसको कठोरतम दण्ड दिलवाए"—

सूनाध्यक्षः प्रदिष्टाभयानामभयवासिनां च मृगपशुपक्षिमत्स्यानां बन्धवधहिंसाया-मुत्तमं दण्डं कारयेत्।

'विष्णुसंहिता' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने मनोरंजन के लिए किसी अहिंसक जीव का वध करता है वह इस जीवन में मृत के समान है और उसे इहलोक और परलोक में सुख नहीं मिलता है—

यो हिंसकानि भूतानि हिनस्यात्मसुखच्छया।
सजीवंच ऋतंचैव न क्वचित् सुखमेधते॥

प्रदूषण के प्रति हमारे पूर्वज बड़े जागरूक थे। पेड़-पौधों अथवा वनस्पति से हमें शुद्ध वायु, शीतल छाया, मीठे और सुस्वाद फल, रंगीन पुष्प और गोंद-लकड़ी तो मिलती ही है, साथ ही इनके फूलों, फलों, पत्तियों, छालों और जड़ों से नाना प्रकार की ओषधियाँ भी बनाई जाती हैं। जड़ी-बूटियाँ वनस्पति ही तो हैं। तुलसी, आँवला, नीम आदि की ओषधिक महत्ता से हमारे पूर्वज भी पूर्णतः परिचित थे, तभी उन्होंने वनों और वृक्षों के रोपने-सींचने का उपदेश दिया और इन्हें काटने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए।

स्मृतिग्रन्थ प्राचीनकाल के कानून-ग्रंथ कहे जा सकते हैं। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में कहा गया है कि जो व्यक्ति किसी हरे-भरे वृक्ष की शाखा, तना या उसे समूल नष्ट करे तो उसे क्रमशः 20, 40 और 80 पण के जुर्माने से दण्डित किया जाय—

प्ररोहिशाखिना शाखास्कन्धसर्वविदारणे।
उपजीव्य द्रुमाणां च विंशते द्विगुणो दमः॥

इसी प्रकार 'विष्णुधर्मसूत्र' में भी फल-फूल देने वाले वृक्षों, लताओं और हरी-भरी घास काटने वालों के लिए राजा द्वारा दण्ड दिए जाने की व्यवस्था है। मनु ने 'मनु-स्मृति' में वृक्ष के विभिन्न भागों के विनाश करने के लिए उन-उन भागों की उपयोगिता के आधार पर दण्ड देने का प्रावधान किया है—

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामित धारणा॥

पेड़-पौधों और किसी भी राष्ट्र के जनजीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। भारतीय समाज अत्यंत प्राचीनकाल से इस दृष्टि से सदैव सतर्क रहा है। उन्हें यह भली-भाँति मालूम था कि अकारण पेड़-पौधों की कटाई से प्रकृति में प्रदूषण पैदा होगा और प्रजा में रोग फैलेंगे। 'चरक संहिता' में वन का विनाश राज्य के विनाश के समान बताया गया है।

उसमें कहा गया है कि वन का विनाश मनुष्यों और देश के लिए घातक है। वनस्पति के विनाश से नाना प्रकार के रोग पनप उठते हैं और देश को बर्बाद कर देते हैं। सम्भवतः इसी आपत्ति से देश और समाज को बचाने के लिए संसार भर में वृक्षपूजा की परम्परा का सूत्रपात हुआ होगा। भारतीय साहित्य और यहाँ की कला में वृक्षपूजा के अनगिन उदाहरण पाए जाते हैं। महाभारत का एक उदाहरण ही काफी होगा जिसमें गाँव के अकेले हरे-भरे वृक्ष को चैत्य के समान पूजनीय कहा गया है—

एक वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत् पर्ण फलान्वितः।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः॥

ऊसर भूमि के उपयोग के लिए उपाय बताते हुए कौटिल्य ने उस पर राजा के विहार के लिए मृगवन विकसित करने का सुझाव दिया है और कहा है कि स्वादिष्ट फलों वाले वृक्षों, लताकुंजों, गहरे जलाशयों तथा जंगली पशुओं से युक्त इस मृगवन में अन्य देशों के पशुओं को लाकर रक्खा जाये। उन्होंने पास में ही हस्तिवन बनाने का भी सुझाव दिया है जिसमें हाथियों की रक्षा के लिए पुरुषों को नियुक्त करने तथा हाथियों को मारने वालों को दण्डित किए जाने का प्रावधान हो। कौटिल्य के इस सुझाव से तत्कालीन समाज में वनों की महत्ता का ज्ञान स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

प्रदूषण के प्रति प्राचीन भारत के लोगों का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। वृक्षों की हरियाली तथा जीव-अहिंसा के अतिरिक्त जल के प्रदूषण तथा सामान्य स्थान के प्रदूषण के प्रति भी हमारे पूर्वज सावधान थे। मार्ग को गंदा करना भी वर्जित था और मंदिर तथा तीर्थ को दूषित करना दण्डनीय अपराध माना जाता था। कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में चेतावनी दी है कि "सड़क पर मिट्टी या कूड़ा-कर्कट डालने वाले पुरुष को 1/8 पण दण्ड दिया जाये, जो पुरुष गारा-कीचड़ या पानी से सड़क पर बाधा डाले उसे 1/4 पण दण्ड दिया जाये और जो पुरुष राजमार्ग पर यह अपराध करे उसे दूना दण्ड दिया जाये। राजमार्ग, पुण्यस्थान, कुआँ-तालाब, देवालय, खजाना आदि स्थानों में जो पुरुष मल का त्याग करे, उसे उत्तरोत्तर एक पण अधिक दण्ड देना चाहिए। इन्हीं स्थानों पर मूत्र-त्याग करने पर आधा दण्ड देना चाहिए"—

पांसुन्यासे रथ्यामष्टभागो दण्डः। पंकोदकसंनिरोधे पादः। राजमार्गे द्विगुणः। पुण्यस्थानोदकस्थानदेवगृहराजपरिग्रहेषु पणोत्तरा विष्ठादण्डाः। मूत्रष्वर्धदण्डाः।

तैत्तिरीय आरण्यक में पर्यावरण-प्रदूषण के बचाव तथा जनकल्याण के लिए एक सामाजिक नियम का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को जल में न मूत्र-त्याग करना चाहिए, न थूकना चाहिए और न ही नंगे स्नान करना चाहिए—

नाप्सु मूत्रं पुरीषं कुर्यात्।
न निष्टीवेत् न विवसने स्नायात्॥

जल को प्रदूषण-रहित रखने के लिए यही विधान 'मनुस्मृति' में प्रस्तुत किया गया है जिसमें कहा गया है कि 'पानी में मूत्र, मैला, थूक, अपवित्र अन्य कोई वस्तु (जूठन आदि), रक्त, विष न छोड़ें—

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ।। 4/56

इस प्रकार सिन्धुघाटी-सभ्यता से ही हमारे पूर्वजों (आर्यों) को प्राकृतिक वातावरण की शुद्धता और पर्यावरणप्रदूषण का ज्ञान था और वे इस प्रदूषण से बचाव तथा सार्वजनिक स्वच्छता के प्रति सतर्क थे। यह तथ्य 'वैदिक साहित्य', 'महाभारत', 'रामायण', 'पुराणों' तथा 'स्मृतियों' से उजागर हो जाता है। किन्तु जबसे विदेशी विचारों ने हमारे समाज को आन्दोलित करना प्रारम्भ किया, जबसे हमारे यहाँ पाश्चात्य सभ्यता का पदार्पण हुआ तबसे हम धीरे-धीरे अपने प्राचीन संस्कृत साहित्य से अपरिचित होते गए। अंग्रेजों ने प्रकृति से हटाकर विकसित औद्योगिक एवं वैज्ञानिक जीवन-पद्धति की ओर हमारी सम्पूर्ण जीवनधारा मोड़ दी। हम ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से विकसित तो होते गए, परन्तु अपने सनातन धर्म से और उसी के साथ-साथ प्राकृतिक-सुषमा से, संस्कृत भाषा से और उस भाषा में संकलित पर्यावरण-सम्बन्धी आदर्शों से विमुख भी होते गए। अब हमें न पेड़-पौधों से कोई लगाव है और न पशु-पक्षियों से।

सभी जीवधारियों के प्रति दया और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना परोपकार कहा जाता है। अपने लिए तो सभी कार्य करते हैं, जो दूसरे के लिए कार्य करे वही परोपकारी है। इस महनीय उपदेश का उदाहरण हमें नदियों, वृक्षों और बादलों से मिलता है—

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नोदकं
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतवे
परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

अब आप स्वयं सोचें कि जब नदी, वृक्ष और बादल अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने में ही सुख अनुभव करते हैं तो क्या मनुष्य का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह भी दूसरे जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों तथा नदी-सरोवरों को न तो सताए और न उन्हें दूषित करे। इसी पारस्परिक परोपकार से पर्यावरण को शुद्ध रखा जा सकता है।

कंकरीट, सीमेण्ट और लोहे के स्थान पर अब जिस प्रकार मिट्टी के भवन बनाए जाने का अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास चल रहा है, उसी प्रकार वृक्षारोपण, और पशुपालन के हमारे पुराने आदर्शों को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। तभी संसार का उद्धार सम्भव है। □□

पर्यावरण में रेडियोसक्रिय अपशिष्ट

अनिल कुमार शुक्ल

अपशिष्ट से हमारा तात्पर्य सामान्यत: किसी भी उत्पादक प्रक्रिया के दौरान बच गये उन व्यर्थपदार्थों (कूड़ा-करकट) से है, जिनकी कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं। ऐसे व्यर्थपदार्थ, किसी भी खाली पड़े स्थान पर यों ही फेंक दिये जाते हैं और उनका निपटान किसी का सिरदर्द नहीं बनता। पर आज के वैज्ञानिक परमाणु युग में हम कुछ ऐसे अपशिष्टों का 'उत्पादन' भी करने लगे हैं, जिनको ठिकाने लगाना अब सिरदर्द बनने लगा है। पूरे विश्व में जैसे-जैसे पर्यावरणीय चेतना का प्रसार हुआ है, वैसे-वैसे इन अपशिष्टों का निपटान समस्या बनता गया है। ये अपशिष्ट, जिन्हें हम **'रेडियोसक्रिय अपशिष्ट'** के नाम से पुकारते हैं, ऐसी हर जगह पाये जाते हैं जहाँ रेडियो सक्रिय पदार्थों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, परमाणु-विद्युत् केन्द्रों में, ईंधन पुनर्शोधन इकाइयों में, परमाणु अनुसंधान केन्द्रों में, अस्पतालों में, रेडियो-समस्थानिक उद्योगों में, युद्ध उद्योगों में आदि-आदि।

अध्ययन व निपटान की सुविधा की दृष्टि से विशेषज्ञों ने रेडियोसक्रिय अपशिष्टों के तीन वर्ग निर्धारित किये हैं—उच्च सक्रियता अपशिष्ट, मध्यम सक्रियता अपशिष्ट और निम्न सक्रियता अपशिष्ट। **निम्न सक्रियता अपशिष्ट** के अन्तर्गत ऐसे हर पदार्थ शामिल माने जा सकते हैं, जो किसी न किसी स्तर पर रेडियोसक्रिय पदार्थों के सम्पर्क में आए हों। उदाहरण के लिए अस्पतालों, प्रयोगशालाओं आदि में प्रयुक्त शीशे के बर्तन, प्लास्टिक की बोतलें, परिरक्षात्मक (Protective) कपड़े आदि। मात्रात्मक दृष्टि से ऐसे अपशिष्ट सम्पूर्ण रेडियोसक्रिय अपशिष्टों का 90% होते हैं, लेकिन निम्न रेडियोसक्रियता के कारण उतने ख़तरनाक नहीं होते, अतएव उनका निपटान बड़ा ही आसान है। ऐसे अपशिष्ट को बैग या ड्रम में बन्द कर गहरी खाईयों या सुरंगों में डाल दिया जाता है। **मध्यम सक्रियता अपशिष्ट** निम्न सक्रियता अपशिष्टों की तुलना में प्राय: हज़ार गुना अधिक रेडियोसक्रिय होता है। इस वर्ग में नाभिकीय ऊर्जा केन्द्रों, रेडियो-समस्थानिक उद्योग, ईंधन पुनर्शोधन इकाइयों एवं युद्ध उद्योगों में 'उत्पादित' अपशिष्ट (ठोस या द्रव) शामिल किये जाते हैं। इन अपशिष्टों में लगभग 30 साल अर्धआयु ('Half-life Period) वाले सीजियम–137 स्ट्रांशियम–90 **तथा** कई हज़ार साल तक की अर्धआयु वाले कार्बन–14, निकिल–59 व जिरकोनियम–93 जैसे रेडियो न्यूक्लियाइड शामिल हैं। इनकी मात्रा कुल रेडियोसक्रिय अपशिष्टों का केवल 9% (लगभग) होती है। **उच्च सक्रियता अपशिष्ट** प्रयुक्त नाभिकीय ईंधन के पुनर्शोधन के फलस्वरूप हमारे पर्यावरण में प्रविष्ट होता है। वह प्रयुक्त ईंधन मुख्यत: अवशिष्ट यूरेनियम होता है, जो रिएक्टर के भीतर अपनी दो-तीन साल की 'निवास-अवधि' के दौरान अनेक प्रकार के एक्टिनाइड्स व अन्य विखण्डन-उत्पादों (fission pro-

ducts) से मिश्रित हो जाता है। पुनर्शोधन (Reprocessing) की प्रक्रिया में यूरेनियम व प्लूटोनियम तो अलग हो जाते हैं, पर बचा हुआ अम्लीय विलयन अत्यधिक रेडियोसक्रिय व गर्म होता है। इस विलयन की रेडियोसक्रियता का अन्दाज़ इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि मात्रा में केवल 1% होते हुए भी कुल रेडियोसक्रियता में 95% योगदान इसी उच्च सक्रियता अपशिष्ट का होता है।

इसीलिए परमाणु ऊर्जा पर बढ़ती निर्भरता के साथ-साथ उच्च व मध्यम सक्रियता अपशिष्टों की मात्रा भी पर्यावरण में बढ़ती चली जाएगी। और इसी के साथ-साथ इन्हें निपटाने की समस्या भी जटिल होती चली जाएगी। उल्लेखनीय है कि अब तक हमें कोई भी ऐसी विश्वसनीय व सुरक्षित प्रविधि मालूम नहीं है। अभी तक इस दिशा में जो कुछ भी प्रयास हुए हैं, वे अत्यन्त प्रारम्भिक व मूलतः प्रयोगात्मक प्रकृति के हैं। दरअसल समस्या ही कुछ ऐसी जटिल है कि समाधान दिन-ब-दिन कठिन लगने लगा है। मूलतः यह एक ऐसी समस्या है, जिसका हल केवल विज्ञान के सहारे नहीं ढूंढ़ा जा सकता और विज्ञान की भी किसी एक शाखा के बजाय अनेक असंबद्ध शाखाओं के समवेत प्रयास ही उपयोगी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए भू-विज्ञानी हमें यह बता सकते हैं कि पृथ्वी (या किसी देश) के किस हिस्से में **असंतृप्त चट्टानी क्षेत्रों** के नीचे भू-जल का प्रवाह न्यूनतम है तो पदार्थ-विज्ञानी व इंजीनियर, रसायनविदों की मदद से हमें ऐसे ड्रम या कनस्तर आदि के निर्माण में मदद कर सकते हैं, जिसमें रखे गये रेडियोसक्रिय अपशिष्ट का विकिरण बाह्य पर्यावरण के लिए ख़तरा न बने। रसायनशास्त्री ऐसी रासायनिक विधियों की खोज कर सकते हैं जिनसे अपशिष्टों की रेडियोसक्रियता में कमी आये। यदि हम 'शुद्ध विज्ञान' की सीमा से बाहर निकल जायँ तो पुरातत्वशास्त्र (Archaeology) भी हमारी काफी मदद कर सकता है। क्योंकि भूकम्प व ज्वालामुखी आदि के संदर्भ में यह अनुभव किया गया है कि भू-तकनीकी जानकारी व पर्याप्त प्रेक्षणों के अभाव में, प्राकृतिक क्रियाओं को समझ लेने के बावजूद, उनके सम्बन्ध में की गई भविष्यवाणियाँ प्रायः गलत हो जाती हैं। ऐसी भू-तकनीकी जानकारी व प्रेक्षणों की कमी को पुरातात्विक प्रमाणों से प्राप्त निष्कर्ष पूरा कर सकते हैं। पुरातात्विक अवशेष जिन परिस्थितियों व क्षेत्रों में हज़ारों हज़ार साल सुरक्षित रह सके, यदि वे परिस्थितियाँ वर्तमान हों या किसी प्रकार पुनर्निर्मित की जा सकें तो निश्चय ही रेडियो-सक्रिय अपशिष्टों को भी दीर्घकाल के लिए सुरक्षित निपटा पाने की सम्भावना बढ़ जाएगी।

वस्तुतः इस युग में ज्ञान (विज्ञान) का जिस तेज़ी से विस्फोट हो रहा है, वैसी स्थिति में ज्ञान-विज्ञान की किसी भी शाखा की कोई निर्धारित सीमा नहीं रह गई है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ जिस तेज़ी से सिमटती व फैलती हुई एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण रही हैं, उससे भी कहीं अधिक तेज़ी से मानवीय ज्ञान और चेतना के नये क्षितिज दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अगर इस आपसी अंतःक्रिया के फलस्वरूप (जैसे रसायन व भौतिकशास्त्र की अंतःक्रिया) कोई समस्या (जैसे रेडियोसक्रियता) पैदा हुई है तो उसका समाधान भी अंतःक्रियाओं से ही सम्भव हो सकेगा।

पर उन सम्भावनाओं को छोड़, आइए, उन रसायनशास्त्रियों की दुनिया में वापस लौट चलें, जहाँ रेडियोसक्रिय अपशिष्टों के निपटान की दिशा में कुछ सफलता मिली जान पड़ती है। उल्लेखनीय है कि किसी भी रेडियोसक्रिय अपशिष्ट के निपटान के दो उपाय सम्भव हैं—या तो उस अपशिष्ट को अत्यन्त सान्द्रता में पूरे पर्यावरण में फैला दिया जाय अथवा उसे किसी 'कब्रगाह' (Repository) में पूरे सुरक्षा प्रबन्धों के साथ 'दफ़ना' दिया जाय। पहला उपाय केवल गैसीय अपशिष्टों अथवा 'निम्न विशिष्टता' वाले द्रव अपशिष्टों हेतु ही उपयुक्त है। चूंकि अधिकांश रेडियोसक्रिय अपशिष्ट 'ऐसे' नहीं हैं, अतः उन्हें तब तक पर्यावरण से दूर रखा जाना आवश्यक है, जब तक कि उनकी रेडियोसक्रियता घटकर नगण्य नहीं हो जाती। अतः ऐसे अपशिष्टों के निपटान के लिए दूसरा उपाय ही शेष बचता है। पर इस उपाय को अपनाने में दो मुख्य कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह कि, मध्यम सक्रियता वाले कुछ अपशिष्टों व उच्च सक्रियता वाले अपशिष्टों में 'दीर्घजीवी' रेडियो-न्यूक्लियाइडों की मात्रा काफी होती है, अतएव कोई भी अच्छे से अच्छा ड्रम, कनस्तर अथवा भण्डारण कक्ष इतने अधिक वर्षों तक इन रेडियोन्यूक्लियाइडों से अप्रभावित नहीं बचा रह सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि असावधानी या अज्ञानवश रेडियोसक्रिय अप-शिष्टों की यह 'कब्रगाह' भविष्य में मानव-गतिविधि का केन्द्र न बन जाय! इस दूसरी कठिनाई से बचने के लिए इन 'कब्रगाहों' के लिए ऐसा निर्जन मरुस्थलीय/चट्टानी क्षेत्र चुना जाता है जहाँ भू-जल की प्रवाह गति अत्यन्त कम होती है; साथ ही 'दफ़नाते' समय अन्य सुरक्षा-उपाय भी किये जाते हैं। अमेरिका में पुरातत्वशास्त्र की मदद से कुछ ऐसे चेतावनी संकेतक उपकरण व प्रतीक चिह्न विकसित करने के प्रयास भी किये जा रहे हैं, जिनकी मदद से इन 'कब्रगाहों' को भावी पीढ़ी पहचान सके।

पहली कठिनाई को हल करने की दिशा में भी प्रयोगात्मक स्तर पर सफलता मिली जान पड़ती है। 'दीर्घजीवी' रेडियोन्यूक्लियाइडों को 'दफ़नाने' से पूर्व उपयुक्त अविलेय ठोस रूप में बदलने के लिए, प्रारम्भिक प्रयोगों में—विशेषकर फ्रांस में—**बोरोसिलिकेट काँच** को आदर्श माना गया था। पर बाद में यह देखा गया कि यदि सीजियम व स्ट्रांशियम जैसे रेडियोन्यूक्लियाइड, अपशिष्ट में मौजूद हों तो 'क्षरणरोधी कनस्तरों' [जिसमें अप-शिष्ट को बन्द किया जाता है] की विश्वसनीयता घट जाती है। अतः ब्रिटेन में किये जा रहे प्रयोगों में कुछ 'नये' उपाय प्रस्तावित किये गये हैं। उदाहरण के लिये, कन्टेनर [वह कनस्तर या ड्रम, जिसमें अपशिष्ट बन्द किये जाते हैं] एक विशेष प्रकार के सीमेन्ट मैट्रिक्स, कार्बनस्टील या स्टेनलेस स्टील का होगा। इस कन्टेनर को काफी गहरे खोदे गये खड्ड में रखा जाएगा। उस खड्ड व कन्टेनर के बीच की खाली जगह को करीब 10·5 p^H से अधिक के क्षारीय सीमेन्ट पदार्थों से भरा जाएगा। इस उच्च p^H स्तर के तीन लाभ होंगे—

(i) यह कन्टेनर के क्षरण को नियंत्रित करेगा।

(ii) यह अनेक 'दीर्घजीवी' रेडियोन्यूक्लियाइडों की विलेयता कम कर देगा।

(iii) यह सूक्ष्मजैवीय (Microbial) गतिविधियों को कम कर देगा।

प्रयोग कर रहे रसायनशास्त्रियों का विश्वास है कि ऐसी परिस्थितियों में स्टेनलेस अथवा कार्बन स्टील के कन्टेनर 300 से 500 वर्षों तक सुरक्षित व विश्वसनीय बने रह सकते हैं। यानी इन कन्टेनरों में सीजियम व स्ट्रांशियम जैसे रेडियोन्यूक्लियाइड—जिनकी अधआयु करीब 30 साल है—सुरक्षित 'दफ़नाये' जा सकते हैं। जहाँ तक नेप्चूनियम, प्लटोनियम व अमरीकियम जैसे **'अतिदीर्घजीवी'** परायूरेनिक तत्वों की बात है, इनको विलेयता व विलेय (जल) के p^H के बीच सम्बन्ध ज्ञात करने हेतु किये गये प्रयोगों के भी उत्साहवर्द्धक परिणाम मिले हैं। तकनीकी जटिलताओं व विस्तार में न जाकर, यहाँ केवल यह कह देना ही पर्याप्त है कि लगभग 10 p^H मान पर इन रेडियोन्यूक्लियाइडों की विलेयता भी काफी कम—पेयजल की सीमा में—पाई गई है।

निश्चय ही इन प्रयोगों से आशा की एक नई किरण चमकी है। यदि इन प्रयोगफलों की व्यवहारिक पुष्टि हो गई, तो निश्चय ही 'सुरक्षित' परमाणु ऊर्जा का सपना साकार हो जाएगा। यद्यपि इन परमाणु ऊर्जा केन्द्रों में चेरनोबिल जैसी किसी अप्रत्याशित दुर्घटना का ख़तरा तो बना ही रहेगा—पर ऐसा ख़तरा कहाँ नहीं है?—तथापि रेडियोसक्रिय अपशिष्टों के निपटान का सिरदर्द तो खत्म होगा!

जी, हाँ! यह 'सिरदर्द' तो खत्म हो जाएगा। समस्या जन्मी है तो सुलझेगी भी; पर किसी अकेली समस्या के सुलझाने से काम नहीं चलने का। इक्कीसवीं सदी, जिसके आने में अब मात्र तेरह साल बचे हैं, के आते-आते जन-सामान्य में पर्यावरण के प्रति जागरूकता तो बढ़ेगी ही; विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास भी और तेज़ी से होगा। ज्यों-ज्यों विज्ञान बढ़ेगा, नयी-नयी तकनीकें विकसित होंगी, वैसे-वैसे मानवीय क्रियाकलापों व शोधप्रयासों के पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभावों की प्रभावी माप भी सम्भव हो सकेगी। यही वह समय होगा जबकि सारे पर्यावरणीय आन्दोलन तर्कसम्मत वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होंगे तथा उनके 'गैर वैज्ञानिक' हो जाने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। अगर ऐसा होता है—और अगर हम चाह लें तो अवश्य हो सकता है—तभी विज्ञान और तकनीकी का वरदायी स्वरूप भी निखरेगा और हमारा पर्यावरण भी सुरक्षित रहेगा! आइए, अपनी चेतना को ऐसी ही सुखद इक्कीसवीं सदी के निर्माण का साधन बनायें!!

□□

जंगल का दर्द महिलाओं ने समझा है

उत्तराखण्ड में 'चिपको आन्दोलन' की शुरूआत 1973 में हुई थी। पर्वतीय क्षेत्र की महिलाओं ने इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। वे कहती हैं, "जंगल हमारा मायका है। चारा, जलावन, फल-फूल सब उसी से तो मिलते हैं।" वनों की रक्षा के लिए वन अधिकारियों और शासन के सामने घुटने टेक देने वाले पुरुषों से ही नहीं, शासन से भी इन महिलाओं को लोहा लेना पड़ा। एक लम्बी लड़ाई के बाद अलकनन्दा घाटी में 'जंगल बचाओ' अभियान में उन्हें सफलता मिली। कई मुद्दों पर उनका संघर्ष अब भी जारी है।

प्रसन्नताकी बात है कि जिस 'चिपको आन्दोलन' को सरकार अपना विरोध करने वाला राजनैतिक आन्दोलन समझ रही थी, उसी के नेताओं को स्वर्गीया प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी के 69 वें जन्म दिन पर 'इंदिरा प्रियदर्शिनी वृक्ष मित्र पुरस्कार' से सम्मानित किया।

पर्यावरण के प्रति वैज्ञानिकों का नैतिक दायित्व

डॉ० ओ० पी० सिनहा

वातावरण का प्रदूषण विश्वव्यापी है। यहाँ तक कि जब यह प्रदूषण पृथ्वी के किसी सुदूर-से-सुदूर कोने में भी घटित होता है, तो भी यह एक-न-एक प्रकार से सभी देशों और महाद्वीप के निवासियों पर असर डालता है। जन्मजात तथा आनुवंशिक रोगों में वृद्धि ने पहले से ही भावी पीढ़ी के स्वास्थ्य की सुरक्षा के प्रश्न को अत्यधिक गम्भीर बना दिया है। वैज्ञानिकों का विचार है, कि मनुष्य के अवयवों में घटित हो रहे मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में गड़बड़ियों से उसे बचाने के लिए ज़रूरी है कि वातावरण के प्राकृतिक प्रांचलों को बनाये रखा जाय जिसका वह विकास की लम्बी प्रक्रिया के द्वारा अभ्यस्त होता है। और उससे भी ज्यादा इन प्रांचलों को इस प्रकार से उन्नत करने की आवश्यकता है कि मनुष्य अपनी जाति को बनाये रखे और हर प्रकार से स्वस्थ संतति को जन्म दे, तथा अपनी जातियों को जारी रखने और पृथ्वी की जनसंख्या के स्वास्थ्य की रक्षा करने की मानवीय क्षमता की रक्षा करे।

वर्तमान युग का मनुष्य उन सामाजिक-पारिस्थितिक परिणामों को पहले से ही समझ लेने में अत्यधिक दिलचस्पी ले रहा है, जो सैकड़ों-हज़ारों साल बाद विश्वव्यापी स्तर पर अपना नकारात्मक प्रभाव प्रदर्शित कर सकते हैं। कहने का मतलब यह है कि आज विज्ञान अपने विकास-पथ के ऐसे बिन्दु पर पहुँच चुका है कि विशिष्ट राष्ट्रों का स्वास्थ्य, जीवन तथा मौत, सभ्यता तथा इस धरती पर प्रत्येक जीवित पदार्थ का भाग्य ऐसे ख़तरनाक प्रयोगों (अथवा ऐसे तो सुरक्षित प्रतीत होने वाले किन्तु पारिस्थितिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण तत्वों के प्रयोग) पर निर्भर प्रमाणित हो सकता है, जिनको स्वयं मनुष्य पर उनके नकारात्मक प्रभाव और आवास पर विचार किये बिना ही प्रायः अपनाया जाता है।

यह ख़तरा बढ़कर और भी वास्तविक इसलिए हो जाता है कि मानवता-विरोधी लक्ष्यों के लिए अथवा धरती पर जनसंख्या के स्वास्थ्य तथा जीवन के मूलभूत पारिस्थितिक आधारों की रक्षा करने के लिए समुचित गारन्टी प्रदान किये बिना ही प्रयुक्त की गई अनेक वैज्ञानिक खोजों ने आज पहले ही से मानवता को आंशिक या सामान्य विनाशकारी संकट के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है।

चूंकि आधुनिक परिस्थितियों में वैज्ञानिक ही किसी भी नवीन वैज्ञानिक खोज को प्रयुक्त करने के सम्भावित सामाजिक-पारिस्थितिक परिणामों का पहली बार विषयपरक मूल्यांकन कर सकता है, इसलिए इस पृथ्वी पर सभ्यता और जीवन के लिए निहित ख़तरों के बारे में विशाल जनमानस को सूचित करने का सामाजिक-पारिस्थितिक उत्तरदायित्व

वैज्ञानिक पर ही है। इसलिए उसे इस मान्यता को बराबर मस्तिष्क में रखने की आवश्यकता है कि जब कभी मानव के समस्त खतरों और उससे संरक्षण को पहले से ही देख लेने की बात उठे, समकालीन वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर वैज्ञानिकों को सभी सम्भावित विकल्पों में से सर्वाधिक बुरे विकल्प पर विचार करना चाहिए और मानवता को इन खतरों से सजग करना उनका पुनीत कर्त्तव्य है।

इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुछ वैज्ञानिक 'शुद्ध' विज्ञान के दृष्टिकोण से शोध कार्य करते जा रहे हैं और जानते हुए भी मानव स्वास्थ्य और जीव मंडल की स्थिति के लिए खतरनाक प्रयोगों को उनके घातक परिणामों की अवहेलना करते हुए विशद रूप से जारी रखे हुए हैं। उनके द्वारा अपने सामाजिक-पारिस्थितिक उत्तरदायित्व की अवहेलना को उनकी खोजों की चरम उपयोगिता के द्वारा ढँकने का प्रयास किया जाता है। 'वैज्ञानिक विभाग की स्वच्छन्दता' के समर्थकों के दृष्टिकोण में वैज्ञानिक संसार के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादियों की गैरजिम्मेदारी की झलक दिखाई पड़ती है, क्योंकि वे प्रायः अपने द्वारा की गई अनूठी खोजों के प्रयोग को सैनिक-औद्योगिक क्षेत्र के कार्यकर्ताओं की स्वेच्छा पर छोड़ देते हैं, जो अपने मानवता विरोधी गतिविधि को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न कर रहे हैं। विज्ञान का इतिहास ऐसे ढेरों प्रमाणों से भरा हुआ है कि प्रगतिशील नैतिक मूल्यों की वैज्ञानिक सृजनशीलता का किस प्रकार विरोध हो रहा है और वैज्ञानिक किस प्रकार मानवता के आदर्शों से अपने को अलग कर रहे हैं। इन प्रमाणों ने इस सम्भावना को और भी प्रबल बना दिया है कि विज्ञान की नवीनतम प्रगति को मानवता और उसके आवास को बरबाद करने के लिए प्रयुक्त किया जाएगा। इसके कारण वैज्ञानिक कार्य समाजविरोधी गतिविधि में परिवर्तित हो गये हैं। व्यक्तिगत वैज्ञानिकों के द्वारा राष्ट्रों और समस्त मानव जाति एवं इस धरती पर जीवन के विरुद्ध अपराधी दृष्टिकोण के दृष्टान्त तो सम्पूर्ण संसार में विशद रूप से विद्यमान हैं।

ऐसी स्थिति में मानवतावादी वैज्ञानिक मानव जाति के सदस्यों के रूप में अपने इस पुनीत कर्तव्य को भली-भाँति समझ रहे हैं कि उन्हें यथेष्ट समय के रहते ही नये सिरे से एक बार फिर सोचने की आवश्यकता का स्मरण कराना चाहिए और विश्व जनमत के अधिक-से-अधिक भाग में इस बात की जागृति पैदा करनी चाहिए कि आगे के विश्व युद्ध में विषैले और आणविक शस्त्रों का सम्भावित प्रयोग तथा हथियारों की अबाध होड़ सामाजिक और पारिस्थितिक नींवों के लिए कितना विनाशकारी प्रमाणित हो सकता है।

सम्पूर्ण मानवजाति के कल्याण के लिए, युद्ध एवं शांति तथा समाज और प्रकृति की अंतर्क्रिया के समस्त प्रश्नों पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता को अब विश्व के प्रगतिशील वैज्ञानिक विशेष महत्व देने लगे हैं। किन्तु विश्व आणविक युद्ध के ख़तरे और सामाजिक-पारिस्थितिक समस्याओं की जटिलता एवं भयंकरता के बावजूद बहुत से लोग युद्ध एवं शांति की समस्याओं पर आणविक युग के पूर्व की रूढ़ एवं परम्परागत बेकार और समय से बहुत पीछे की दृष्टियों से ही चिपके हुए हैं और पारिस्थितिक खतरे की या तो अवहेलना करते हैं या उसे कम करके आँकते हैं। इसका कारण है विचार

करने की पुरातन शैली को ही अपनाये रहना और विश्व में पैदा हो रही नई-नई स्थितियों पर पूरी गम्भीरता के साथ विचार कर सकने की असामर्थ्य। यही कारण है कि यदि मानव-जाति अपने अस्तित्व को कायम रखने और अपने आवास के रूप में इस पृथ्वी को बनाये रखना चाहती है, तो उसके लिए वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय और पारिस्थितिक तनाव के परिप्रेक्ष्य में विचार करने की नवीन शैली को अपनाना सर्वथा अनिवार्य हो गया है।

इस तरह इस पृथ्वी पर सभ्यता और जीवन के लिए अपनी ही अन्तर्चेतना और सम्पूर्ण मानवता के प्रति सामाजिक-पारिस्थितिक उत्तरदायित्व की उसकी गहन चेतना पर ही वैज्ञानिक की समूचे समाज के लिए उस दृष्टि से मूल्यवान गतिविधि सम्भव होती है। और चूंकि हम जानते ही हैं कि एक व्यक्ति का सजग उत्तरदायित्व ही उसका नैतिक गुण हो जाता है, इसलिए वैज्ञानिक कार्यकताओं का विवाद, प्रत्यक्ष पारिस्थितिक प्रशिक्षण इस गुण को ढालने में अत्यधिक महती भूमिका अदा कर सकता है।

आधुनिक काल में सम्पूर्ण विश्व की जैविक समस्याओं से निपटते समय शोधकर्ता के व्यक्तित्व के नैतिक गुण और उसके चरित्र की शक्ति या कमजोरी ही सर्वाधिक आवश्यक है। वैज्ञानिक के चरित्र और अन्तर्चेतना की कमजोरी के कारण अकसर निर्णायक कार्य करने की निश्चेष्ट आवश्यकता ठोस कार्य में निहित नहीं होती। इतिहास ऐसे अनेक मामलों को जानता है, कि विज्ञान के प्रतिनिधि कहीं अधिक न्यून किन्तु अपरिहार्य बुराई के रूप में खुले संघर्ष के बजाय समझौते को वरीयता प्रदान करते हैं। ऐल्बर्ट आइंस्टीन ने मेरी क्यूरी को श्रद्धांजलि देते हुए लिखा था—"किसी एक पीढ़ी के प्रमुख व्यक्तियों के नैतिक गुण शुद्ध रूप से बौद्धिक क्षमता की तुलना में उस पीढ़ी और भावी सन्तान के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं।"

'विज्ञान के रख-रखाव और विकास का प्राथमिक उत्तरदायित्व स्वयं विज्ञान-कर्मियों का है, क्योंकि केवल वे ही कार्य की प्रकृति और विकास के लिए अपेक्षित दिशाओं को भली-भाँति समझ सकते हैं।'

अनेक देशों में राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तत्कालीन सामाजिक-पारिस्थितिक समस्याओं को हल करने के लिए बहुत से उपाय खोजे और लागू किये जा रहे हैं। 5-6 मार्च, सन् 1980 को अधिकांश देशों के द्वारा उद्घोषित प्रकति के संरक्षण के लिए विश्व रणनीति का निर्माण आज अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस रणनीति का उद्देश्य है प्रकृति का संरक्षण करने के लिए प्रमुख अपेक्षाओं की जानकारी देना और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए उपाय को खोजना। पर्यावरण की सुरक्षा के अत्यावश्यक उपायों को अपनाने की आवश्यकता के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को मान्यता प्रत्येक राज्य को देनी होगी और विश्व रणनीति को इस विश्व-समस्या से निपटने में एक बड़ी भूमिका अदा करनी चाहिए। अधिकांश सामाजिक-पारिस्थितिक समस्याओं का मानवजाति के संयुक्त प्रयास के द्वारा सामना किया जा सकता है बशर्ते वृहद अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हो।

□□

जैवतकनीकी : सफलतायें और सम्भावनायें

अमिताभ प्रेमचन्द्र

आनुवंशिक अभियांत्रिकी अथवा जेनेटिक इंजिनियरिंग के क्षेत्र में प्राप्त की गई अभूतपूर्व सफलताओं से न केवल जीवविज्ञानियों और विज्ञानियों में वरन् जन-मानस में भी इसके प्रति आकर्षण बढ़ा है। किन्तु साथ ही इसने अनेक प्रकार की भ्रांतियों और शंकाओं को भी जन्म दिया है अतएव जैवतकनीकी और आनुवंशिक अभियांत्रिकी के सम्बन्धों को स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

जैव तकनीकी या बायोटेक्नॉलोजी को परिभाषित करते समय यह कह सकते हैं कि यह बहुत सी औद्योगिक विधियों का ऐसा संगम है जिसमें मुख्य रूप से किण्वन और उससे सम्बंधित संसाधनों का प्रयोग किया जाता है। और आनुवंशिक अभियांत्रिकी ऐसी प्रयोग-शाला तकनीक है जिसका प्रयोग कर जीवित कोशिका के वंशानुगत कूट (हेरेडिटी कोड) को परिवर्धित करके उसे नवीन अथवा अद्वितीय क्षमतायें प्रदान की जाती हैं।

इन परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में आनुवंशिक अभियांत्रिकी जैवतकनीकी के क्षेत्र का एक समर्थ हथियार लगती है। इस प्रकार आज की जैव तकनीकी वास्तव में शास्त्रीय जैवरसायन और पारंपरिक औषधिनिर्माण तकनीकी का ऐसा संगम है जिसमें आनुवंशिक अभियांत्रिकी और संसाधन तकनीक में हुयी प्रगति का भी समावेश है। जैवतकनीकी का प्रयोग मानव और अन्य पशुओं के स्वास्थ्य को सुरक्षा प्रदान करने वाले उत्पादों, कृषि को समुन्नत करने वाले रसायनों, भोजन और पेय पदार्थों तथा कुछ विशेष जैवरसायनों के उत्पादन में लाभदायक सिद्ध होगा।

मानव-स्वास्थ्य-रक्षक उत्पाद—आज मानव-स्वास्थ्य-रक्षक उत्पादों के निर्माण के लिए जैवतकनीकी का प्रयोग किया जा रहा है। आनुवंशिक अभियान्त्रिकी की सहायता से रोगों का निदान जल्दी और सफलता-पूर्वक किया जा सकता है। बहुत से रोगों का सफल इलाज उसके शीघ्र निदान पर ही निर्भर करता है जैसे **कैन्सर, कुष्ठ** इत्यादि। अब इस कार्य को सम्भव बनाया गया है एकक्लोनी (मोनोक्लोनल एण्टीबॉडीज) प्रतिरक्षियों के निर्माण की तकनीक द्वारा। केवल एक कोशिका के क्लोन से समांग प्रतिरक्षी उत्पन्न किये जाते हैं। ये केवल एक विशेष प्रकार की रसायनिक संरचना को ही पहचानते हैं।

पिछले एक वर्ष में कई अमेरिकी और यूरोपीय संस्थानों ने जीन की क्लोनिंग में सफलता का दावा किया है। इससे विषाणु प्रोटीन का संश्लेषण कर टीकों (वैक्सीन) का निर्माण किया जा सकता है।

जीन अभियान्त्रिकी द्वारा टीकों के निर्माण के लिए केवल विषाणु प्रोटीन का संश्लेषण करना होता है। इस विधि में रोग फैलाने वाले जीवित विषाणु की उपस्थिति सम्भव

नहीं होती अतः उनको फैलने से रोकने के लिए अवशेषी सक्रियता और जटिल पृथक्करण तकनीक का प्रयोग नहीं करना पड़ता। इन लाभों के कारण आनुवंशिक अभियान्त्रिकी द्वारा निर्मित टीके कुछ दिनों में बाजार में बहुतायत से मिलने लगेंगे। विभिन्न कम्पनियाँ इस समय **हेपेटाइटिस हरपीज़, मलेरिया, पोलियो, हैजा और रेबीज़** जैसे रोगों के लिए टीकों के निर्माण में संलग्न हैं।

जीन अभियान्त्रिकी द्वारा यह सम्भव हो गया है कि मनचाही मात्रा में **हारमोनों** का निर्माण किया जा सके जो कि पहले असम्भव था। हारमोन शरीर की कुछ विशेष कोशिकाओं द्वारा स्रावित पदार्थ हैं जो अन्य कोशिकाओं तक खास संदेश ले जाते हैं। आनुवंशिक अभियान्त्रिकी द्वारा निर्मित कुछ हारमोन हैं मानव इंसुलिन, मानव वृद्धि हारमोन (HGH), टिशू प्लाज्मिनोजेन एक्टीवेटर (TPA) आदि। मानव इंसुलिन जीन अभियान्त्रिकी द्वारा निर्मित प्रथम हारमोन है जिसका व्यवसायिक उपयोग हो रहा है। बहुचर्चित औषध **इंटरफेरॉन** एक प्रोटीन है जो शरीर की प्राकृतिक रक्षा व्यवस्था को उत्तेजित करती है, इसका भी व्यवसायिक उत्पादन किया जा रहा है।

पशु स्वास्थ्य रक्षक उत्पाद—पशुओं की स्वास्थ्य रक्षा का क्षेत्र भी मानव स्वास्थ्य रक्षा से मिलता-जुलता है। जैव तकनीकी द्वारा उत्पादित पदार्थों का उपयोग पशुओं के लिए विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है, जिससे अनेक लाभ उठाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए पशु वृद्धि हारमोन का प्रयोग दूध देने वाले पशुओं पर करने से उनका विकास तेजी से होता है। दुग्ध-उत्पादन बढ़ाने के लिए हारमोनों को आनुवंशिक अभियान्त्रिकी द्वारा उत्पादित किए जाने का विचार है। इस क्षेत्र में बहुत दूर तक जाने की सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं।

कृषि रसायन—इस क्षेत्र में भी जैव तकनीकी के प्रयोग की अनेक दिशायें हैं। किसी विशेष जाति के पौधे के लिए आनुवंशिक अभियान्त्रिकी द्वारा या कृत्रिम रूप से संश्लेषित-पीड़कनाशी (पेस्टीसाइड), कवकनाशी या शाकनाशी पदार्थों का प्रयोग उन पुराने रसायनों के स्थान पर किया जा सकता है जो पर्यावरण को दूषित करते हैं साथ ही कैन्सर जैसे रोगों को जन्म देते हैं। इस समय इस दिशा में विभिन्न योजनाओं पर अनुसंधान चल रहे हैं।

शोधकर्ता इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि जीवाणु के जीन सीधे ही पौधों की कोशिकाओं में प्रविष्ट करा दिये जाएँ जिससे कि पौधे में कीट आविष (टॉक्सिन) उत्पादन या शाकनाशी प्रतिरोध के अभिलक्षण उत्पन्न हो जाएँ। ध्यान देने की बात यह है कि कीट प्रतिरोधी पौधों के विकास से जहाँ कीटनाशियों की खपत में कमी आयेगी वहीं शाकरोधी पौधों के विकास से रासायनिक शाकनाशियों की माँग बढ़ जायेगी। इस विधि से फसल को होने वाली हानि को न्यूनतम किया जा सकेगा।

विशिष्ट रसायन—आनुवंशिक अभियान्त्रिकी की सहायता से विभिन्न प्रकार के पदार्थों का निर्माण किया जा सकता है जिसमें मूल्यवान रासायनिक मध्यवर्ती से लेकर जैव-उत्प्रेरक तक शामिल हैं। इस समय पारम्परिक किण्वन विधि से रसायनों की तीन श्रेणियों

का निर्माण सूक्ष्मजीवों द्वारा किया जा रहा है। इसमें विटामिन, अमीनो अम्ल और एंज़ाइम शामिल हैं। विटामिन 'सी' का निर्माण रसायनों के संश्लेषण और किण्वन विधि के सहयोग से होता है जबकि विटामिन बी–2 और बी–12 का उत्पादन केवल किण्वन द्वारा ही किया जाता है।

मिथियोनिन को छोड़कर अन्य सभी अमीनो अम्लों (प्रोटीन की निर्माण इकाई) का निर्माण किण्वन विधि द्वारा होता है। बहुत से एंज़ाइम अब व्यवसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गये हैं। एंज़ाइम विशेष प्रकार के प्रोटीन होते हैं जो जीवन के लिए आवश्यक रासायनिक अभिक्रियाओं में उत्प्रेरक का कार्य करते हैं। कुछ एंज़ाइमों के व्यवसायिक उपयोग निम्न हैं––

(1) **प्रोटिएज़**—इसका उपयोग अपमार्जकों में सफ़ाईकारक तत्व के रूप में और फलों के रस एवं बियर के निर्माण में स्वच्छन कर्मक के रूप में किया जाता है।

(2) **ग्लूकोएमाईलेज़ एवं अल्फ़ाएमाईलेज़**—इसका प्रयोग एल्कोहॉल के उत्पादन में स्टार्च को किण्वन लायक शर्करा में परिवर्तित करने हेतु करते हैं।

(3) **रेनिन**—इसका प्रयोग पनीर के उत्पादन के लिए किया जाता है। कुछ कम्पनियों का दावा है कि उन्होंने रेनिन का निर्माण क्लोन विधि के उपयोग से कर लिया है। अब तक रेनिन का उत्पादन पारम्परिक विधि से गाय के आमाशय के चौथे खण्ड से निष्कर्षण द्वारा किया जाता था।

खाद्य एवं पेय पदार्थ

इस क्षेत्र में जैव तकनीकी के प्रयोग से विभिन्न पदार्थों के निर्माण की असीम सम्भावनाएँ प्रशस्त हुई हैं—

(1) **एल्कोहॉलीय पेय पदार्थ**—इनका उत्पादन केवल किण्वन विधि द्वारा ही किया जाता है। पूरे विश्व में इन पदार्थों की बिक्री से होने वाली आय 300 बिलियन डॉलर प्रतिवर्ष है।

(2) **मधुरक**—ये पदार्थ जैवतकनीकी द्वारा उत्पादित पदार्थों में प्रमुख हैं। उदाहरण के लिए जैवतकनीकी के सफल प्रयोगों में से एक है फ़्रक्टोज़बहुल मक्के का सिरप। इस प्रक्रिया में मक्के के मंड को फ्रक्टोज़बहुल सिरप में परिवर्तित किया जाता है जो कि सामान्य शर्करा से 1·6 गुना अधिक मीठा होता है।

भारत में जैव तकनीकी

'राष्ट्रीय जैव तकनीकी बोर्ड' ने आनुवंशिक अभियान्त्रिकी, प्रकाश संश्लेषण, ऊतक संवर्धन, एंज़ाइम अभियान्त्रिकी, एल्कोहॉल किण्वन, एवं रोग प्रतिरोधकता उत्पन्न करने की तकनीक आदि विषयों को अनुसंधान के लिए चुना है।

भारत में कृषिसम्बन्धी जैवतकनीकी की दिशाओं में हो रहे कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इसके अन्तर्गत जैव-कीटनाशी, वृद्धिकारक नियंत्रक, प्रकाश-संश्लेषण से

लेकर ऊतक संवर्धन, संकर बीज उत्पादन आनुवंशिक अभियान्त्रिकी, मत्स्य पालन और खाद्य-वसा एवं दुग्ध पदार्थों के संवर्धन तक अनेक क्षेत्रों का समावेश है।

हमारे बहुत से वैज्ञानिकों ने जैव तकनीकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सफलताएँ अर्जित की हैं। ये सभी खोजें कृषि रसायन और प्रतिरक्षा जीवविज्ञान की सहायता से टीके बनाने और रोगों के निदान के सम्बन्ध में हैं। परिणामस्वरूप अगले दस वर्षों में लगभग एक दर्जन टीकों का बृहत पैमाने पर उत्पादन सम्भव होगा। इनके निर्माण में पुनर्योगज डी॰ एन॰ ए॰ (रीकॉम्बीनेन्ट डी॰ एन॰ ए॰) तकनीक का प्रयोग किया जायेगा। अनुसंधानशालाओं में इस समय मुख्यत: **मलेरिया, हैजा, टाइफॉयड, हेपेटाइटिस, इंफ्लुएंजा, खसरा, रेबीज, पीत ज्वर** आदि रोगों पर कार्य बहुत तेज़ी से हो रहा है। हमारे वैज्ञानिकों ने शीरे से खाद्य तेल का उत्पादन करने की तकनीक और संयन्त्र विकसित कर लिए हैं। ऐसी आशा है कि निकट भविष्य में नारियल के पौधे की गुणवत्ता सुधारने तथा अधिक मात्रा में तेल प्राप्त करने के लिए आनुवंशिक अभियान्त्रिकी तकनीक विकसित कर ली जायेगी। एक भारतीय वैज्ञानिक नारियल की पत्तियों से ऊतक संवर्धन तकनीक का प्रयोग कर सम्पूर्ण पौधा विकसित करने में सफल हो गये हैं। यह वैज्ञानिक खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि दक्षिण भारत की सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था नारियल पर ही आधारित है।

पुनर्योगज डी॰ एन॰ ए॰—तकनीकी क्षेत्र में विभिन्न सफलताओं में प्रमुख है पुनर्योगज डी॰ एन॰ ए॰ तकनीक, जिसका बहुत अधिक प्रचार हुआ है। पुनर्योगज डी॰ एन॰ ए॰ तकनीक के प्रयोग से मानव, पौधों, पशुओं और सूक्ष्मजीवों के आनुवंशिक पदार्थ (डी॰ एन॰ ए॰) में सीधे ही परिवर्तन किया जा सकता है। इससे प्राणी के गुणों गुणों में इच्छित परिवर्तन हो जाते हैं और ये परिवर्तन अगली पीढ़ियों में भी उपस्थित रहते हैं।

आनुवंशिक अभियान्त्रिकी व्यवहारिक रूप में जितनी जटिल है उतनी ही आसानी से इसे समझाया जा सकता है। सभी कोशिकाओं में डी॰ एन॰ ए॰ अथवा डी ऑक्सी राइबो न्यूक्लिक एसिड की धागे जैसी संरचना के रूप में जीन उपस्थित होते है। ये जीन डी॰ एन॰ ए॰ का एक टुकड़ा होता है जिसमें प्रोटीन विशेष के संश्लेषण के लिए कूट सूचना होती है। कोशिका से जीन अथवा आनुवंशिक संरचना बाहर निकाल ली जाती है उसे हेर-फेर द्वारा नया रूप दिया जाता हैं जिससे उसका जीन कोड बदल जाता है। यह परिवर्तित संरचना ही पुनर्योगज डी॰ एन॰ ए॰ है। इस परिवर्तित संरचना को एक दूसरी जीवित कोशिका में प्रविष्ट कराया जाता है। यह कोशिका एक नये जीन कोड का निर्माण करती हैं और यह कोड पीढ़ी दर पीढ़ी संतति कोशिकाओं में स्थानान्तरित होता रहता है।

इस तकनीकी के प्रयोग से वैज्ञानिक सेब के गुणों को सेम (बीन) में स्थानान्तरित कर सकेंगे। इसी प्रकार वे पौधों और पशुओं के जीनों को एक दूसरे में प्रविष्ट करा

सकेंगे। सबसे क्रान्तिकारी तथ्य तो यह है कि अब रोग प्रतिरोधकता के जीन को एक जीव से निकाल कर दूसरे में प्रत्यारोपित किया जा सकेगा।

नये पौधों का निर्माण

क्या किसी पौधे में कोई विदेशी जीन प्रविष्ट किया जा सकता है? यदि हाँ, तो पौधों को इस प्रकार रोगप्रतिरोधी और सूखाप्रतिरोधी बनाने के साथ-साथ उनकी खाद्य-गुणवत्ता भी बढ़ायी जा सकती है। लेकिन क्या पौधे की हर कोशिका में विदेशी जीन के अभिलक्षण प्रकट होंगे? एक प्रयोग के अन्तर्गत एक सूक्ष्म जीव के **टी० आई० प्लाज़्मिड** (Ti प्लाज़्मिड) में फ्रेंच बीन का जीन प्रविष्ट कराया और फिर उसे ऐसे सूक्ष्मजीव में प्रत्यारोपित कर दिया गया जो तम्बाकू के पौधे में रोग उत्पन्न करता है। अब पौधे के **क्राउन गाल** (पौधे का रोग विशेष) से कोशिकाएँ निकाल कर संवर्धित की गईं और हार-मोनों की सहायता से एक नन्हें पौधे का विकास किया गया। तत्पश्चात् उसे तम्बाकू के तने में कलम के रूप आरोपित किया गया। इस नये पौधे में फ्रेंचबीन का जीन पूरी तरह प्रकट हुआ और इस नये पौधे का नाम **टोबीन** रखा गया। सैद्धान्तिक रूप से बीन के प्राथमिक प्रोटीन **फैसियोलिन** में केवल एक अन्य अमीनो अम्ल मिथियोनिन जोड़कर उसकी पोषकता को सम्पूर्ण बनाया जा सकता है। इस लक्ष्य के लिये **ई० कोलाई** नामक जीवाणु (**इशरेशिया कोलाई,** जिसका जैव-रसायन और आनुवंशिकी के अध्ययन में प्रयोग किया जाता है और यह आँतों में बहुतायत से पाया जाता है), के प्लाज़्मिड अथवा वृत्ताकार डी० एन० ए० अणु में प्रत्यारोपित फैसियोलिन जीन में मिथियोनिन के 'कोडॉन' प्रविष्ट कराये गये। प्लाज़्मिड जीवाणुओं में पाये जाने जाने वाले विशेष वृत्ताकार डी० एन० ए० अणु होते हैं जिस पर दो या अधिक जीन उपस्थित होते हैं। इनमें स्वप्रतिकरण (सेल्फ रेप्लीकेशन) की क्षमता होती है। इस परिवर्तित जीन का स्थानान्तरण Ti प्लाज़्मिड में किया गया और ऐसीबीन कोशिका में, जिसका फैसियोलिन जीन नष्ट हो चुका हो, इस संरचना को प्रत्यारोपित कर दिया गया। ये कोशिकाएँ वृद्धि कर नये प्रकार का पौधा उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

जैव तकनीकी के क्षेत्र में हो रहे नित नवीन शोधों और उपलब्धियों ने जैव जगत् के सुखद भविष्य के मार्ग की सम्भावनाओं के नये आयाम दिये हैं। आवश्यकता उसके सावधानी व विवेकपूर्ण उपयोग की है जिससे यह तकनीकी मानव समाज की सहायक सिद्ध हो, संहारक नहीं।

□□

जैव-प्रौद्योगिकी

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

जव-प्रौद्योगिकी वैसे तो एक पुराना कौशल है, जिसमें एल्कोहॉल से लेकर प्रतिरक्षी (एन्टीबायोटिक) तक विभिन्न प्रकार के पदार्थों के उत्पादन एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों से रक्षा करने के लिए टीके तैयार करने में किण्वन विधि की सहायता ली जाती है, पर इसमें आये एक नये मोड़ ने सम्पूर्ण जैव-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। अब तक इस क्षेत्र में हुई प्रगति से असीम सभावनाओं के अनेक द्वार खुल रहे हैं। इस नई जागृति का कारण जीवन की महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं को रासायनिक शब्दों में समझने तथा चलाने के लिए पुनर्योगज (रिकाम्बिनैंट) डी० एन० ए० (डिऑक्सीराइबो न्यूक्लिक अम्ल) एवं 'हाइब्रिडोमा प्रौद्योगिकी' का अनुप्रयोग सम्भव होना है।

जैव-प्रौद्योगिकी पर विचार करने से पहले इस क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रगति को भी समझ लें। प्रत्येक जीव कोश में एक ठोस सा केन्द्रीकृत भाग होता है, जिसे न्यूक्लियस या केन्द्रक कहा जाता है। इस केन्द्रक में अनेक संरचनात्मक घटकों के साथ एक अत्यन्त प्रमुख घटक है, डी० एन० ए०, जिसमें वह नियमसंहिता छिपी होती है, जिसके आधार पर जीवकोशिका जैविक क्रियाओं का पालन करता है तथा आनुवंशिक गुण प्रतिपादित करता है। डी० एन० ए० एक सुदीर्घ लड़ी की भाँति होता है, पर सूक्ष्मजीवों तथा विषाणुओं में यह वृत्ताकार होता है। केन्द्रक के अतिरिक्त जीव द्रव्य में डी० एन० ए० वर्तुलाकार होता है जो 'प्लासमिड' के नाम से जाना जाता है। उन्नत-जीवों में ये अंग्रेजी के अक्षर 'X' जैसे होते हैं और 'क्रोमोसोम' कहलाते हैं।

जीन के परिवर्तन से अनेक रोचक परिणाम मिलते हैं। ब्रिटिश वैज्ञानिक **फ्रेड ग्रिफिथ** ने प्रारम्भिक प्रयोग सूक्ष्मजीव पर किया। वे **न्यूमोनिया** के जीवाणु पर परीक्षण कर रहे थे। जब **ग्रिफिथ** ने रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु को निर्जीव करके उसे जीवित परन्तु रोग न उत्पन्न करने वाले जीवाणु के साथ रखा तो देखा कि रोग न उत्पन्न करने वाले जीवाणु भी रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु के रूप में परिवंतित हो गये। **ग्रिफिथ** ने स्पष्ट किया कि यह परिवंतन मृत जीवाणु के जीन के कारण था। इन परिवर्तित जीवाणुओं को कृत्रिम रूप से तैयार करने में विश्व के वैज्ञानिक जुट गये। कई वैज्ञानिकों ने यह जानकारी दी है कि वनस्पति एवं प्राणी जीवकोशों द्वारा बाहरी माध्यम से डी० एन० ए० के अणुओं का अन्तःक्षेपण किया जा सकता है। इस कृत्रिम अन्तःक्षेपण को 'ट्रान्सजीनोसिस' कहते हैं। इस कार्य की सफलता, नये जीन द्वारा आशाजनक परिणाम मिलने तथा परपोषी जीवकोश द्वारा किसी जीन का तिरस्कृत न होना ही है। यद्यपि ये सारे प्रयोग सरल प्रतीत होते हैं फिर भी प्रायोगिक स्तर पर इनमें अनेक क्लिष्ट-क्रियायें सम्मिलित हैं जैसे

विभिन्न स्रोतों से डी० एन० ए० को नियंत्रित ढंग से काटना और जोड़ना, कटे डी० एन० ए० को वाहक जीवाणु के माध्यम से रीकॉम्बीनेन्ट डी० एन० ए० से जोड़ना, रीकॉम्बीनेन्ट डी० एन० ए० को जीवकोश के अन्दर अन्तःक्षेपित करना आदि। यह नया परिवर्तन जीवकोश के बाहरी डी० एन० ए०/जीन की संहिता के अनुसार जैविक प्रक्रिया प्रतिपादित करता है। यह जानना नितान्त आवश्यक है कि नया जीन इस परिवेश में इच्छित कार्य कर रहा है अथवा नहीं। 'जीन क्लोनिंग' की प्रक्रिया द्वारा विशिष्ट परिणाम मिले हैं।

यह निश्चय है कि इस आनुवंशिक-अभियांत्रिकी से हमारी उन समस्याओं का समाधान हुआ है, जो, भूख, बीमारी और ऊर्जा की कमी से सम्बन्धित हैं। वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं कि अनाज का उत्पादन बढ़े, अधिक पौष्टिक खाद्य-सामग्री का उत्पादन हो, पौधों को बीमारियों से सुरक्षित रखा जाए और असामान्य परिस्थितियों में भी सफलतापूर्वक अन्न का उत्पादन हो सके, पशुधन एवं मवेशियों की भयंकर रोगों से रक्षा की जा सके तथा उनके आनुवंशिक विकारों को दूर कर उनसे अधिक लाभ लिया जा सके और ऊर्जा की कमी को इस तकनीक के माध्यम से व्यर्थ अवशेषों से गैस, एल्कोहॉल बना कर पूरा किया जा सके। इस प्रौद्योगिकी के संकेत निश्चित ही व्यापक हैं। पिछले दशकों में अनुकूल परिस्थितियों में **'ई० कोलाई'** को इन्सुलिन उत्पन्न कराने योग्य बनाया जा सका है जो इस प्रौद्योगिकी की महानतम सफलता है।

कृषि एवं जैव-प्रौद्योगिकी

अब जैव-प्रौद्योगिकी चिकित्साजगत् में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त करने के बाद **कृषि-क्षेत्र** में प्रवेश कर चुकी है। ऐसे जीन, जो दलहनी फसलों में वायुमंडलीय नाइट्रोजन के स्थिरीकरण (Fixation) का कार्य सहज ही करते हैं, उनकी पहचान कर ली गई है तथा इन जीनों को धान्यों के अन्दर प्रविष्ट करने हेतु अनुसंधान चल रहे है, जिससे वे स्वतः नाइट्रोजन का यौगिकीकरण कर अपनी नाइट्रोजन की आवश्यकता को पूरा कर सकें। इसी प्रकार के प्रयोग अन्य फ़सलों में भी हो रहे हैं। यह भी प्रयास चल रहे हैं कि वनस्पतियाँ अपना ही कीटाणुनाशक प्रोटीन स्वयं तैयार करने की क्षमता प्राप्त कर लें। और तो और पौधे स्वयं ही मृदा से पोषक तत्वों को सुलभ रूप में प्राप्त करने की क्षमता विकसित कर सकें ऐसे भी प्रयोग चल रहे हैं।

प्रयोगशाला में पौधे उत्पन्न करने की दिशा में **'ऊतक सम्वर्धन'** विधि अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। इन्हें एक विशिष्ट वांछनीय गुण के लिए अथवा बीज रहित फलों, सब्ज़ियों के लिए संचारित किया जाता है। अब ऊतक-सम्वर्धन द्वारा सम्पूर्ण वनस्पति का पुर्नजनन सम्भव हो गया है। 'एन्ज़ाइम-अभियांत्रिकी', जैव-प्रौद्योगिकी का एक और महत्वपूर्ण पहलू है इससे सुगमतापूर्वक विशिष्ट एन्ज़ाइमों द्वारा अनेक क्लिष्ट रासायनिक प्रतिक्रियाएँ सहज ही सम्पादित की जा सकती हैं। इससे रासायनिक उद्योगों में एक नये साधन की वृद्धि हुई है। सबसे बड़ी सफलता तब होगी जब इस विधि से असीम ऊर्जा प्राप्त की जा सकेगी तथा सेल्यूलोज् से शर्करा बनाने वाले जीवाणुओं का विकास हो जाएगा। वनस्पति की चुनी किस्मों की शीघ्र वृद्धि के लिए ऊतक-सम्वर्धन एक महत्वपूर्ण

तकनीक है। अमेरिका तथा ब्रिटेन में ऑर्किड, डहेलिया, कार्नेशन, स्ट्राबेरी क्राइसेन्थेमम (गुलदाउदी) जैसी अनेक फसलों के व्यापक पैदावार के लिए यह तकनीक उपयोग में लायी जा रही है। सारांश यह है कि निकट भविष्य में जैव-प्रौद्योगिकी, आनुवंशिकी अभियांत्रिकी, ऊतक सम्वर्धन द्वारा व्यापक अनुप्रयोगों का परिणाम ऐसा निकलेगा कि जिससे मानव अपनी दिनचर्या में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकेगा।

किन्तु जैव-प्रौद्योगिकी का एक ख़तरा भी है। असावधानी से जीन के आन्तरिक परिवर्तन द्वारा ऐसे विषाणु भी उत्पन्न हो सकते हैं जो भयावह स्थिति पैदा कर अपने व किसी विभेद द्वारा संक्रमण पैदा कर किसी देश की मृदा, पर्यावरण, जैव वातावरण, कृषि-वातावरण को कुप्रभावित कर दें। विनाशकारी कृत्रिम जीवाणु पैदा करके कोई अविवेकी देश 'जैविक युद्ध' की तैयारी कर सकता है। भोपाल, चेरनोबिल जैसी दुर्घटनाओं की पुनरावृत्ति भी जैव-प्रौद्योगिकी के माध्यम से हो सकती हैं। उदाहरणार्थ अब यह कठिन कार्य नहीं रहा, कि एक लीटर अति विषाक्त 'बोटुलिन' (botulin) छोटी सी प्रयोगशाला में जैव प्रौद्योगिकी द्वारा बनाया जा सके, जो करोड़ों लोगों को सहज ही एक साथ मारने की विलक्षण क्षमता रखता है। मैं यहाँ अर्जेन्टाइना में घटी एक दुर्घटना का उदाहरण देना चाहूँगा। गत वर्ष अमेरिका की एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी ने 'रेबीज़ वैक्सीन' का परीक्षण वहाँ की गायों पर वहाँ के पशु चिकित्सकों की अनुमति के बिना किया। फलस्वरूप गायों में महामारी फैल गई।

यहाँ कुछ प्रश्न सहज ही उठते हैं। क्या जैव प्रौद्योगिकी द्वारा उत्पन्न भयावह स्थिति पर नियंत्रण सम्भव हो सकेगा? क्या जैव-प्रौद्योगिकी की भूल से कोई सम्भावित दुर्घटना नहीं घट सकती? हमें निश्चय ही सजग रहना होगा। अतएव जैव-प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करने में हमें बड़ी सावधानी बरतनी होगी।

□□

दून घाटी में चूना खोदने के विरुद्ध आन्दोलन

देहरादून में चूना खोदने का इतिहास लगभग 300 वर्ष पुराना है, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के चालीस वर्षों में जिस तरह खादानों से लगातार चूना निकाला जा रहा है उससे ज़मीन की कटाई और वन-विनाश के साथ ही सहस्रधारा क्षेत्र की भरी-पुरी बस्ती नष्ट हो गयी। काफी होहल्ले के बाद मार्च 1985 में सर्वोच्च न्यायालय ने 54 खादानों में खुदाई बन्द करने का आदेश दिया था, पर तब से खुदाई बढ़ी ही है, घटी नहीं। खान से आये मलबे ने पानी के अनेक स्रोत भी सुखा डाले हैं। यदि चूना खोदने पर अविलम्ब रोक नहीं लगाई गई तो इससे होने वाले पर्वतीय पर्यावरण के नुकसान की भरपाई कभी भी नहीं हो पायेगी।

नया पर्यावरणीय दर्शन

मंजुलिका लक्ष्मी

प्रकृति और विकास की अंधी दौड़ में मानव-समाज ने पिछले सौ वर्षों की अवधि में जिस तरह वर्तमान की चेतावनी को नकार कर भविष्य के पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है उससे तो यही प्रतीत होता है कि उसने आत्महनन की स्थिति को सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया है—उसे ही अपनी नियति मान लिया है। परन्तु वैज्ञानिकों और विचारकों के रूप में बीच-बीच में आशा की कोई किरण चमक कर यह आस्था जगा देती है कि यदि अब भी हम चाहें तो प्रकृतिप्रदत्त 'तकनीकों पर आधारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का निर्माण कर एक सुखद भविष्य की रचना कर सकते हैं।

आज तो स्थिति यह है कि अविचारपूर्ण कार्यों से मनुष्य ने पिछले सौ वर्षों में तीस हज़ार से अधिक पादप जातियों को या तो समूल नष्ट कर दिया है या मौत की कगार पर पहुँचा दिया है। पक्षियों और स्तनपोषी जीवों की बारह हज़ार जातियों में से लगभग एक हज़ार के विलुप्त होने की आशंका बढ़ी है और दो सौ तक पहले ही समाप्त हो चुकी हैं। उसी स्थान पर **होमो सेपियन्स** अर्थात् मानव जाति संख्या में सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा छह गुना अधिक बढ़ गई है।

संख्या बढ़ने के साथ स्वाभाविक रूप से मानवजाति की आवश्यकतायें और उनके द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का सीमा से अधिक दोहन भी बढ़ा है। जहाँ अन्यान्य प्राकृतिक कच्चे माल की खपत में दस गुना अधिक की वृद्धि हुई है वहीं ऊर्जा की खपत बीस गुना अधिक हो चली है। समस्याओं में इतनी ही वृद्धि जैसे पर्याप्त नहीं थी तो अविवेकपूर्ण-उपयोग से पृथ्वी पर मिट्टी की उपजाऊ सतह भी दिनोंदिन पतली होती जा रही है। वहीं भूमिक्षरण, प्रदूषण, मरुथलीकरण और कांक्रीटों के जंगलों के कारण उपयोगी भूमि का क्षेत्र भी संकुचित होता जा रहा। विडम्बना यह है कि जैसे-जैसे समस्यायें सुरसा की भाँति मुँह फाड़ रही हैं, वैसे-वैसे ही पृथ्वी पर मानवों की संख्या भी भयानक गति से बढ़ती जा रही है। आज हमारी संख्या 5000 मिलियन से ऊपर पहुँच चुकी है और आगामी पन्द्रह वर्ष की अवधि पूर्ण होते-होते इसमें एक हज़ार मिलियन और बढ़ जाने की दृढ़ सम्भावना है। दूसरी तरफ़ पृथ्वी का आकार तो ज्यों का त्यों ही रहने वाला है।

आशय यह है कि धरती के सम्पूर्ण परिस्थितिक-तंत्र के परिप्रेक्ष्य में मानवों की अनुपातहीन तरीके से बढ़ी संख्या ने सारी व्यवस्था और सन्तुलन को विच्छिन्न करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

किन्तु अभी आशा पूर्णतया लुप्त नहीं हुई है। अब भी यदि प्राकृतिक नियमों और तकनीकों को आधार बनाकर हम मानव-समाज के ताने-बाने को पुनर्व्यवस्थित करने की

ओर ध्यान दें तो निराश होने का कोई कारण नहीं है। यह अवश्य है कि हमें अपने पुराने चिरपरिचित तरीकों को बदलना पड़ेगा।

हमारी धरती स्वयं तकनीकी और व्यवस्था के परस्पर आदर्श समन्वय का एक श्रेष्ठतम नमूना है। इस कथन का प्रमाण है प्रकृति द्वारा ऊर्जा की न्यूनतम खपत और अपने पदार्थों का निरन्तर पुनर्नवीकरण। प्रकृति के पास हज़ारों-लाखों वर्षों से दो बिलियन टन कार्बनिक पदार्थ (ऑर्गेनिक मैटर) उपलब्ध है और प्रतिवर्ष उसमें से दस प्रतिशत रूपान्तरित होता रहता है। आश्चर्य तो यह है कि अपने इस कार्य-व्यापार को सुचारु रूप से नियन्त्रित करने में प्रकृति के सम्मुख न तो ऊर्जा की कमी की समस्या आती है न अपशिष्ट के निपटान की। यह चमत्कार भला कैसे सम्भव हो पाता है? वस्तुतः प्रकृति, में इस सब पर दृष्टि रखने वाली कोई केन्द्रीय व्यवस्था नहीं है। वहाँ सभी कार्य स्व-नियंत्रण के सिद्धान्त पर सम्पादित होते हैं। केन्द्रीकृत ढाँचे के अभाव में सभी व्यवस्थायें पूर्णतः विकेन्द्रित हैं। यही कारण है कि प्रकृति इतनी कुशलता से चक्र पूरा करती है। यह व्यवस्थायें अविश्वसनीय सीमा तक लाभप्रद होने के साथ ही साथ भविष्य में घटने वाली घटनाओं का स्वरूप भी निश्चित कर देती हैं।

हमारी पारंपरिक विचारधारा और कार्यपद्धति को आत्मघाती बताते हुए धरती पर एक नयी, सुगठित और निर्बाध व्यवस्था का स्वप्न देखने वाले जर्मनी के क्रान्तिकारी विचारक **फ्रेडरिक वेस्टर** महोदय का कथन है कि अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम जनसामान्य में भूमण्डलीय पारस्परिक सम्बन्धों की एक अधिकाधिक विस्तृत चेतना का जागरण अभीष्ट है। उनकी राय में हमें पृथ्वी के जैवमंडल के ताने-बाने के नमूने पर भूमण्डलीय पारस्परिक सम्बन्धों, निर्भरता और पुनर्निवेश के विषय में विचार करना चाहिए। इसी सिद्धान्त को आधार बना कर **वेस्टर** महोदय अपनी किसी योजना का निरीक्षण उसके सीमित क्षेत्र में नहीं करते वरन् अन्यान्य क्षेत्रों से उसके पारस्परिक संबंधों का भी सूक्ष्म अध्ययन करने पर बल देते हैं। उनके विभिन्न परिणामों की संभावनाओं को दृष्टि में रखते हुए, उनके **अति जटिल अप्रत्यक्ष संबंधों** को समझ कर उसे ही मुख्य मुद्दा बनाने की सलाह देते हैं। इसी कारण उनका झुकाव विज्ञान के कारण और प्रभाव के पारंपरिक सिद्धान्त और उनकी अपनी अन्तः क्रियोन्मुख विचार पद्धति की मिश्रित प्रणाली की ओर है।

मानव समाज के सुखद भविष्य की कुंजी आज 'जीवन, अर्थव्यवस्था और तकनीकी' की स्वानियंत्रक नियमों (Cybernetic System) से परिचालित व्यवस्था में छिपी है। यह लक्ष्य तकनीकी, सहकारिता, सहजीवन, सहयोग, पुनर्चक्रण, ऊर्जा श्रृंखलाओं के निर्माण और उनके बारम्बार उपयोग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस पुनरोपयोग की व्यवस्था में शुद्धिकरण और मरम्मत की आवश्यकता भी नहीं रह जायेगी। एक आत्मनिर्भर व्यवस्था वाले ग्राम में पर्यावरण की दृष्टि से कम हानिकारक और परस्पर एक दूसरे पर निर्भर तकनीकों का प्रयोग करके ऐसी आदर्श इकाई का निर्माण किया जा सकता है जो प्राकृतिक नियमों के अनुकूल हो।

इस इकाई का मूलाधार कृषि होगी। दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लघु उद्योगों की सहायता ली जायेगी। और इन सब कार्यों के लिए ऊर्जा आयेगी ऊर्जा के गैर पारम्परिक स्रोतों से; जिसमें पवन-ऊर्जा, सौर-ऊर्जा और जैव-ऊर्जा की भूमिका प्रमुख होगी। इन उद्योगों का अपशिष्ट जैव-ऊर्जा के संयन्त्रों में प्रयुक्त किया जा सकेगा। इस विधि से अधिक से अधिक ऊर्जा प्राप्त करना आसान हो जायेगा। यह जैव-ऊर्जा उद्योगों को चलाने के अतिरिक्त आवासीय गृहों में भोजन पकाने के लिए भी उपयोग में लाई जा सकेगी। आवासीय गृहों को गर्म करने और प्रकाशित करने के लिए सौर-ऊर्जा की सहायता से पूरे वर्ष 'ग्रीन-हाउस' का तापक्रम नियन्त्रित करके हर प्रकार के पेड़-पौधों को जीवित रखना और ताजी सब्जियों को पाना आसान हो सकेगा। पवन-ऊर्जा से सिचाई-पम्पों का परिचालन कर कृषि के लिए पानी की आवश्यकता की पूत्ति के साथ-साथ खेतों में शैवालों का संवर्धन कर उसे रासायनिक खादों के विकल्प के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। यह शैवाल खेतों में नाइट्रेट और फ़ास्फ़ेट की आवश्यकता की पूत्ति करके हमें रासायनिक खादों के उन विषैले रसायनों से मुक्ति दिला सकती है जो खेतों से बहकर और जल स्रोतों में मिलकर तथा धरती की पर्तों में समाकर मानव जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं। मल-जल को भी पहले उपचारित और तत्पश्चात् उसका परिशोधन करके नदियों और जलाशयों में प्रवाहित करने से जहाँ एक ओर जल-प्रदूषण नहीं होगा वहीं शुद्ध जल की भी कमी नहीं रहेगी। उपचारित मल-जल से प्राप्त अपशिष्ट को जैव-ऊर्जा संयंत्रों में डाल-कर अपशिष्ट और कचरे की समस्या का भी हल ढूंढा जा सकता है। इसी प्रकार घरेलू कूड़ा-कचरा भी जैव-ऊर्जा उत्पादन के लिए प्रयुक्त हो सकता है। मल-जल उपचारण संयन्त्र और जैव-ऊर्जा संयन्त्र से प्राप्त अपशिष्ट खेतों में उपजाऊ खाद बन कर खाद्यान्न-उत्पादन को दोगुना कर सकता है। साथ ही साथ मल-जल के अपशिष्ट से अलग किए गए रसायन और धातुओं का पुनर्चक्रण करके उन्हें भी दुबारा उपयोग में लाया जा सकेगा।

इस प्रकार एक ऐसी बृहत् शृंखला का निर्माण करके जिसमें कृषि, उद्योग, ऊर्जा और मानवजीवन सभी एक दूसरे पर निर्भर होकर सहयोगिता से कार्य करें एक सम्पूर्ण आत्मनिर्भर इकाई का निर्माण किया जा सकता है जहाँ पारिस्थितिक तंत्र का संतुलन अक्षत रहे। यहाँ पर्यावरण प्रदूषण की सर्वभक्षी समस्या का हल भी मिलेगा और ऊर्जा के आसन्न संकट से मुक्ति के साथ-साथ प्रचुर मात्रा में खाद्यान्न भी। लघु-उद्योग और विभिन्न संयन्त्रों में मानवीय सहायता की आवश्यकता से बेरोजगारी की भीषण समस्या का भी कुछ सीमा तक समाधान मिल सकेगा। यही नहीं, रोजगार के नये अवसरों की उपलब्धि के कारण ग्रामीण जनसंख्या का, शहरों की ओर अंधाधुंध निर्गम भी नियन्त्रित हो जायेगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि डगमगाते पारिस्थितिक संतुलन को पुनर्स्थापित करने की दिशा में यह एक ठोस और प्रभावी कदम होगा। परन्तु इस सबके लिए आवश्यक यह है कि हम कृषि, ऊर्जा, मानवजीवन और उद्योग जैसी सभी इकाइयों को अलग-अलग करके न देखें वरन् उनके पारस्परिक सम्बन्धों और अन्तर्प्रभावों पर विशेष दृष्टि रखें। वस्तुतः यह पारस्परिक निर्भरता ही प्रकृति के संतुलन का मूल आधार है और इसे दृष्टि से ओझल कर देने पर ही समस्याओं के विकराल स्वरूप सामने आते हैं।

उद्योगों को सुचारुरूप से चलाने के लिए भी एक संतुलित पारिस्थितिक तन्त्र की आवश्यकता है। आज औद्योगिक इकाइयाँ अपने अति विशाल ऐकिक ढाँचे और केन्द्रीकृत प्रशासनिक स्वरूपों के ही कारण समस्याग्रस्त हैं। हानिकारक तकनीकों और बढ़ते उत्पादन पर उनकी निर्भरता एक ओर बेरोज़गारी को जन्म देती है दूसरी ओर प्रशासनिक समस्याओं को। यही नहीं, अपने अति विशाल आकार के कारण ये औद्योगिक इकाइयाँ किसी एक व्यक्ति की प्रशासनिक क्षमता की सीमा से भी बाहर चली जाती हैं। इन उद्योगों में ऊर्जा का निवेश तो बड़ी मात्रा में होता ही है, वे बदले में और बड़ी मात्रा में पर्यावरणीय प्रदूषण, सामाजिक समस्याओं और तनावों को जन्म देते हैं। वास्तव में कोई तकनीकी अपने आप में समस्या नहीं बनती। समस्यायें जन्म लेती हैं हमारे वर्तमान व्यवस्था-तंत्र के अन्दर प्रचलित गलत मापदण्डों के अनुसार तकनीकी के अनौचित्य और अविवेकपूर्ण उपयोग से। आधुनिक तकनीकों में माइक्रो एलेक्ट्रॉनिक तकनीकी में स्थान, ऊर्जा और पदार्थ के न्यूनतम उपयोग से ही कार्य चल जाता है। यह लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

आज की पूरी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए **वेस्टर** महोदय का कथन है कि जैसे मानव शरीर में बढ़ता हुआ रोगग्रस्त अर्बुद (ट्यूमर) अपनी वृद्धि को ही अपनी सफलता समझता है और यह नहीं जानता कि उसकी यह सफलता ही उसके पोषक शरीर की और अन्ततोगत्वा उसकी अपनी मृत्यु है, वैसी ही आज के पूरे पारिस्थितिक तन्त्र में मानव की भूमिका है। उसी अर्बुद की ही तरह आज मानव जाति भी अपने को प्रतिष्ठित और विस्तृत करने के क्रम में अधिकाधिक इमारतें और औद्योगिक ढाँचे निर्मित करती जा रही है। जब तक यह 'मानव-अर्बुद' अपनी इस तात्कालिक सफलता से प्रसन्न होता रहेगा और प्रकृति की संपूर्णता के परिप्रेक्ष्य में अपनी भूमिका का पुनरावलोकन नहीं करेगा तब तक संतुलित पर्यावरण और सुखद भविष्य की कल्पना बस कल्पना ही रहेगी।

□□

सेब की खेती से हिमालय उजड़ रहा है

जी हाँ, **सेब** की खेती से हिमालय के पर्यावरण पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा है। सेव के बगीचे 'बांज जोन' और 'साल जोन' में ही लगाये जाते हैं। सेब की खेती के लिए जब नैसर्गिक वनों का सफाया किया जाता है तो इससे जड़ी बूटियाँ भी नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि सेब की खेती में दूसरी वनस्पतियों का स्थान नहीं रहता। एक अनुमान के अनुसार बांज काटकर सेब की खेती से भूक्षरण 250 गुना बढ़ जाता है। इस संदर्भ में यह **यूकेलिप्टस** का सम्बन्धी है। सेब के खेतों में अन्य वनस्पतियों के अभाव में ऑक्सीजन का भी उत्पादन कम होता है। वन सेब की पेटियाँ बनाने के लिए काटे जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार एक हेक्टेयर सेब का बागीचा सात से दस हेक्टेयर दूसरे वनों को नष्ट करता है। सेब ने रसायन प्रदूषण को भी बढ़ाया है। सेब को 'स्कैब' रोग से बचाने के लिए फफूंदनाशक (फंजीसाइड) का अन्धाधुन्ध इस्तेमाल किया जाता है। यह रसायन आसपास के क्षेत्रों, नदी-नालों और जलस्रोतों से होता हुआ, उन्हें प्रदूषित करता हुआ, अब मैदानों को भी अपनी चपेट में ले रहा है। इसलिए सेब की खेती पर यदि नियंत्रण नहीं किया गया तो हिमालय तो मरेगा ही, उसके साथ समूचा देश भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा क्योंकि हिमालय के पर्यावरण का प्रभाव पूरे देश की जलवायु पर पड़ता है।

ऐसे होंगे सन् 2001 के कंप्यूटर

आशुतोष मिश्र

जिस गति से कंप्यूटर हमारे जीवन में अपना स्थान बना रहे हैं, उससे इस बात की एक झलक मिल जाती है कि आने वाली शताब्दी में उनका क्या स्वरूप होगा। जहाँ आज से दस वर्ष पूर्व "कंप्यूटर" शब्द ही हमारे लिए अपरिचित सा प्रतीत होता था, वहीं आज मानो हमारा जीवन कंप्यूटरमय होता जा रहा है—आज एक प्रकार से हमने स्वयं को कंप्यूटर के हाथों समर्पित कर दिया है; बिना कंप्यूटर के न तो हम कुछ करना चाहते हैं और आश्चर्य की बात तो यह है, कि न कुछ कर भी सकते हैं। वास्तव में, यदि कंप्यूटर का जन्म न हुआ होता तो हम आज इतने समुन्नत न होते जितने कि आज हैं। विचार तो इस बात पर करना है कि आने वाले कल के लिए हम कंप्यूटर को अपने लिए उपयोगी बना सकने में कितने समर्थ होते हैं।

अब तक हमारे कंप्यूटर चार पीढ़ियाँ पार कर चुके हैं, तथा पाँचवीं पीढ़ी के विकास का दौर चल रहा है। यह पाँचवीं पीढ़ी है "बुद्धिमान" कंप्यूटरों की, ऐसे कंप्यूटरों की, जो सोच सकते हैं, समझ सकते हैं, निर्णय ले सकते हैं, दूसरे शब्दों में, एक आम मस्तिष्क की समस्त भूमिकाएँ अदा कर सकते हैं। आजकल जिस "कृत्रिम बुद्धि" (Artificial Intelligence) की चर्चा हम सुनते हैं, वह इन बुद्धिमान कंप्यूटरों के विकास से ही संबद्ध है। जापान की सरकार ने सन् 1982 में पाँचवीं पीढ़ी के कंप्यूटरों का विकास अभियान प्रारम्भ किया। दस वर्षीय इस अभियान का उद्देश्य है, "ऐसी मशीनों का विकास एवं निर्माण, जो न केवल गणनाएँ करती हों, वरन् तर्क करने में सक्षम हों तथा इन मशीनों की गति भी साधारण कंप्यूटरों से हज़ारों गुना अधिक हो।" कृत्रिम बुद्धि के विकास में अनेक अड़चने सामने आती हैं, जिनमें सर्वप्रमुख समस्या है,—"ज्ञान की अभिव्यक्ति" अर्थात् किस प्रकार हम कंप्यूटर को किसी बात का "ज्ञान" करा सकते हैं। "सूचना" तथा "ज्ञान" में अंतर होता है। एक पुस्तक में भी हज़ारों पृष्ठों की सूचना भरी रह सकती है, परन्तु पुस्तक को स्वयं उस विषय का ज्ञान नहीं है; ज्ञान तो उसके पाठक को होता है जो उस पुस्तक में लिखी सामग्री को पढ़ सकता है, याद कर सकता है तथा याद की गई सूचना से भविष्य में लाभान्वित हो सकता है। आज कंप्यूटर में सूचना एकत्रित की जा सकती है, परन्तु उससे एक निश्चित सीमा तक ही लाभ उठाया जा सकता है। वह कुछ सीमित प्रश्नों के ही उत्तर दे सकता है। पर जैसे एक अनुभवी प्रोफेसर अपने क्षेत्र में संबद्ध लगभग सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने में समर्थ होता है, वैसे ही कृत्रिम बुद्धि का भी लक्ष्य ऐसे कंप्यूटर का विकास है, जो उस क्षेत्र में दक्ष हो। इसी संबंध में "दक्ष प्रणालियाँ" (Expert Systems) सामने उभरकर आई हैं। ये प्रणालियाँ

ठीक उसी भाँति कार्य करती हैं, जैसे कि किसी क्षेत्र में उसका विशेषज्ञ। इन प्रणालियों के द्वारा समस्याओं को समझा जा सकता है तथा उनका निराकरण किया जा सकता है। इनमें किसी निर्धारित "प्रोग्राम" द्वारा निष्कर्ष नहीं निकाले जाते, वरन् मनुष्य के मस्तिष्क की भाँति तार्किक समाधान प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार, आजकल के कंप्यूटर वैज्ञानिकों का उद्देश्य "मानव मस्तिष्क" का इलेक्ट्रॉनिक प्रारूप तैयार करना है। दक्ष प्रणालियों के निर्माण के समय दो बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। (i) किसी मानव विशेषज्ञ की तार्किक क्षमता का प्रयोग करके, उसे कंप्यूटर प्रोग्राम का रूप दिया जाता है। (ii) कंप्यूटर द्वारा दिए गए निष्कर्षों को ऐसा रूप दिया जाता है कि वे ऐसे प्रतीत हों, मानों किसी मानव विशेषज्ञ द्वारा दिए जा रहे हों। दक्ष प्रणालियों की एक अन्य विशेषता होती है, अनुभव द्वारा ज्ञानार्जन करना। जिस प्रकार हम नवीन अनुभवों द्वारा ज्ञानप्राप्त कर उन्हें समस्या के हल करने में प्रयुक्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार ये प्रणालियाँ भी सीखती चलती हैं तथा वह अर्जित ज्ञान "मेमोरी" में एकत्रित होता रहता है।

कृत्रिम बुद्धि के विकास के लिए एक विशेष कंप्यूटर भाषा "लिस्प" (LISP) प्रयुक्त होती है। यह लिस्ट प्रोसेसिंग (List Process) अर्थात् "सूची-प्रक्रमन" का सूक्ष्म रूप है। इस भाषा को विकसित करने का श्रेय 'मिट' (MIT) के जॉन मैक्कार्थी को जाता है। इस भाषा में समस्त सूचनाओं को सूचियों (Lists) द्वारा व्यक्त किया जाता है। आज इस भाषा का विस्तृत प्रयोग हो रहा है तथा आशा की जाती है कि भविष्य में इसके द्वारा कृत्रिम बुद्धि तथा दक्ष प्रणालियों के विकास में विशेष सहायता मिलेगी।

भविष्य के कंप्यूटरों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए एक नई तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है—यह तकनीक है "समान्तर संसाधन" (Parallel Processing)। इसके भी दो प्रकार हैं : (i) दिए गए कार्य को अनेक भागों में विभक्त कर दिया जाता है तथा प्रत्येक भाग को अलग-अलग संसाधन यूनिटों द्वारा विश्लेषित किया जाता है। चूँकि सभी भागों का साथ-साथ विश्लेषण होता है, इसलिए कार्य करने में विशेष सुविधा होती है, तथा समय की भी बचत होती है। (ii) जटिल प्रणालियों द्वारा दिये गए कार्य में उपस्थित आंतरिक सम्बन्धों को परखा जाता है तथा जिन भागों में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रहता है, उन्हें एक साथ विश्लेषित किया जा सकता है। पाँचवीं पीढ़ी के कंप्यूटरों में दूसरी (ii) समांतर प्रोसेसिंग का प्रयोग जापान के वैज्ञानिक बड़े स्तर पर कर रहे हैं। इसके "प्रोलॉग" (Prolog) भाषा का बहुधा प्रयोग होता है। "कृत्रिम बुद्धि" के लिए बनाए गए कंप्यूटर अत्यन्त तीव्र गति से कार्य करते हैं, इसलिए उनकी क्षमता को व्यक्त करने के लिए दो नवीन इकाइयों का प्रयोग होता है—

(i) मिप्स (MIPS) अर्थात् एक सेकेण्ड में मिलियन निर्देश (Million Instructions per Second)।

(ii) लिप्स (LIPS) अर्थात् एक सेकेण्ड में तार्किक निष्कर्ष (Logical Inferences per Second)।

प्रथम इकाई कंप्यूटर की उस गति का अन्दाजा देती है, जिससे वह निर्देश ग्रहण कर सकता है। दूसरी इकाई द्वारा कंप्यूटर की तर्क शक्ति निर्धारित होती है, अर्थात् एक सेकेण्ड में कितने तार्किक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

जापानियों द्वारा नवम्बर 1984 में विकसित "कृत्रिम बुद्धि" वाले कंप्यूटर 'पी० एस० आई०' ('PSI' Personal Sequential Inference Machine) की क्षमता लगभग 100 के० लिप्स (K. Lips अर्थात् 100000 Lips) है। पाँचवीं पीढ़ी के कंप्यूटरों के लिए जापानी वैज्ञानिक कई गिगा लिप्स (G lips) की क्षमता प्राप्त करने के लिए यत्नशील हैं।

आने वाली शताब्दी के कंप्यूटरों में एक अन्य सुविधा जो और उपलब्ध हो सकेगी, वह है वाक् अभिज्ञान (Speech Recognition) की। इसका अर्थ यह हुआ कि कंप्यूटर को प्रोग्रामित करने के लिए 'कुंजीपटल' (Key board) पर बैठकर अंगुलियाँ तोड़ने की आवश्यकता नहीं। मात्र बोलकर ही कंप्यूटर में आँकड़े भरे जा सकते हैं, तथा निर्देश भी दिए जा सकते हैं। बहुत काल तक वाक् अभिज्ञान पर किया जा रहा समस्त शोध कार्य निरर्थक प्रतीत होता रहा तथा 1969 में तो ऐसा भी कहा गया कि यह कार्य असम्भव है। परन्तु हाल में दक्ष प्रणालियों की सहायता से इस क्षेत्र में पुनर्जागरण सम्भव हो सका है। वाक् अभिज्ञान का प्रयोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हो सकेगा। आप मात्र आदेश दीजिए, चटपट वह कार्य सम्पन्न होगा। इसके लिए कंप्यूटर मेमोरी में हजारों शब्द व उनके अर्थ एकत्रित किए जाते हैं, तथा एक विशेष इकाई द्वारा बोले गए शब्दों को एकत्रित शब्दों से मिलाया जाता है। जो शब्द सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है, उससे सम्बद्ध आदेश को कंप्यूटर कार्यान्वित करता है। उदाहरणस्वरूप आप एक कंप्यूटर को आदेश देना चाहते हैं, कि वह उससे जुड़े एक रोबोट को इस प्रकार संचालित करे, कि वह सामने रखी एक "पेन" को उठाए। आप सामने रखे माइक्रोफोन में बोलते हैं "पेन उठाओ", माइक से उत्पन्न सिग्नल पहले एक यूनिट द्वारा अनुरूप (anolog) से अंकीय (digital) सिग्नल में परिवर्तित होता है। कंप्यूटर द्वारा इस सिग्नल की तुलना उसकी मेमोरी में एकत्रित अन्य शब्दों से होती है तथा उपयुक्त वस्तु (यहाँ पर "पेन") और उपयुक्त प्रक्रिया (यहाँ पर "उठाओ") से सम्बद्ध सिग्नल रोबोट को प्रेषित कर दिए जाते हैं। रोबोट में लगे टेलिविजन कैमरे, अपने सामने रखी सभी वस्तुओं का एक "इलेक्ट्रॉनिक छायाचित्र" तैयार करके एक अन्य कंप्यूटर को भेजते रहते हैं। कार्य करने का सिग्नल मिलने पर वह कंप्यूटर यह निर्धारित करता है। कि रोबोट को क्या करना है। इस उदाहरण में कंप्यूटर रोबोट का दिशा निर्धारण मेज पर रखी पेन की दिशा में कर देता है, तथा उसके हाथ में लगी मोटर को कार्यान्वित कर देता है, जिससे कि रोबोट का हाथ आगे बढ़ता है और मेज़ पर रखी पेन उठा लेता है। आनेवाली शताब्दी में चूँकि रोबोट पूर्णरूपेण छाने वाले हैं; और चूँकि रोबोट कंप्यूटर के बिना अस्तित्वविहीन हैं, इसलिए वैज्ञानिक इस दिशा में तेजी से जुटे हैं, तथा बहुत कुछ विकसित भी कर चुके हैं।

युद्ध के तेजी से बदलते स्वरूप के लिए भी बहुत हद तक कंप्यूटर जिम्मेवार हैं। कंप्यूटरों के उपयोग से आज युद्ध के हथियारों की मारक शक्ति, उनकी क्षमता में अप्रत्याशित

वृद्धि हुयी है। आज के हथियार मात्र ऐसे नहीं कि बस छूट गए। वे निर्णय ले सकने में समर्थ हैं, दुश्मन के बीच अपना पथ स्वयं निर्धारित कर सकते हैं। अमेरिका में 1983 में 'डारपा' (DARPA अर्थात् Defence Advanced Research Projects Agency) ने, जो कि विशाल सैनिक शोधकार्यों को आर्थिक सहायता देती है, एक पंचवर्षीय कार्यक्रम प्रारम्भ किया 'स्ट्रेटेजिक कंप्यूटिंग प्रोग्राम' (Strategic Computing Program), जिसका उद्देश्य कृत्रिम बुद्धि एवं दक्ष प्रणालियों का युद्धक्षेत्र में प्रयोग करना है। कृत्रिम बुद्धि का प्रयोग मुख्यतः तीन कार्यों में सम्भव हो सकता है। (i) "टार्गेट" (अर्थात् वह स्थल जिसे नष्ट करना है) को पहचानना (ii) स्वचालित युद्धक विमानों में (जिनमें पाइलट नहीं होंगे) (iii) आम युद्धक विमानों में पाइलट की सहायता करना। दक्ष प्रणालियों की सहायता से मिसाइल अपना उपयुक्त टार्गेट (लक्ष्य) पहचान सकता है। यह पहचान इस प्रकार की जाती है किसी भी स्थल पर उपस्थित सभी लक्ष्यों का विश्लेषण किया जाता है, तथा कंप्यूटर मेमोरी में उपस्थित वास्तविक लक्ष्य (जिसे नष्ट करना होता है) से उन सबकी तुलना की जाती है। परन्तु, दक्ष प्रणालियों का एक अन्य उद्देश्य यह होता है कि सही लक्ष्य को ही नष्ट किया जाए। इसलिए तुलना के साथ-साथ, अन्य आँकड़ों जैसे, लक्ष्य की स्थिरता/गतिशीलता, उसकी स्थिति आदि का भी विश्लेषण होता रहता है। इस प्रकार वास्तविक लक्ष्य को ही नष्ट करने में सहायता मिलती है।

भविष्य में एक अन्य क्षेत्र जो कंप्यूटरों द्वारा विशेषकर लाभान्वित होगा, वह है, अभिकल्पन (designing)। आज कंप्यूटर द्वारा उद्योगों में प्रयुक्त उपकरणों, मुद्रित परिपथों, तथा अन्य अनेक सम्बद्ध क्षेत्रों में अभिकल्पन में कंप्यूटरों की सहायता ली जा रही है। इससे एक नया क्षेत्र, जिसे 'कैड' (CAD, Computer Aided Design) कहते हैं, उभरकर सामने आया है। नई मशीनों के डिज़ाइन तैयार करने के लिए अब अधिक माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं रही, कंप्यूटर को आवश्यक निर्देश देते जाइए, वह आपके लिए सर्वाधिक उपयुक्त डिज़ाइन तैयार करेगा। इस शताब्दी में ही इस दिशा में बहुत प्रगति हो चुकी है, अगली शताब्दी के प्रारम्भ तक तो शायद कंप्यूटर, डिज़ाइन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही अपने हाथों में ले लें।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी कंप्यूटरों का योगदान सराहनीय है। भविष्य में आशा की जाती है कि रोगी के लक्षण आदि पहचान कर, उनका विश्लेषण करके कंप्यूटर पूरी चिकित्सा व इलाज का परामर्श दे सकने में समर्थ होंगे। आजकल 'कैट' (CAT, Computer Aided Tomography) का जो कि एक्स-किरण (X-ray) की कंप्यूटरीकृत तकनीक है, विस्तृत प्रयोग हो रहा है।

विज्ञान और तकनीकी के शायद ही किसी क्षेत्र में इतनी तीव्र प्रगति हुई हो, जितनी कि कंप्यूटरों के विकास में हुई है। आज होने वाला समस्त वैज्ञानिक शोध कंप्यूटरों के कंधों पर टिका है, और हम आशा भी यही करते हैं कि आने वाली शताब्दी में कंप्यूटर वैज्ञानिक शोध को अधिक से अधिक विकासशील बनाएँगे तथा मानवजीवन को सुलभ बनाने में हर सम्भव योगदान देंगे। अब कंप्यूटरों को नकारा नहीं जा सकता। ये बाधक नहीं, साधक सिद्ध होंगे। □□

प्रकाशन निदेशालय, पंतनगर के

विश्वविद्यालयस्तरीय प्रकाशन

1. फल उत्पादन	33.00
2. शोभाकर उद्यान	35.00
3. फल जैविकी	52.00
4. प्रारम्भिक कृषि अर्थशास्त्र	10.00
5. बीज उत्पादन एवं विपणन का अर्थशास्त्र	17.00
6. भारतीय कृषि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त	81.00
7. फसलों के हानिकारक कीट	22.00
8. प्रारम्भिक पादप प्रजनन	18.75
9. एशियाई फसलों का प्रजनन	69.00
10. फसलों के रोग	50.00
11. भारत में मृदा संरक्षण	4.65
12. उर्वरक प्रौद्योगिकी	56.00
13. मृदा भौतिकी	52.00
14. बीज संसाधन	37.00
15. सस्य विज्ञान के आधुनिक सिद्धान्त	10.50
16. उत्तर प्रदेश कृषि मानचित्रावली	26.50
17. कृषि संचार : माध्यम एवं पद्धतियाँ	40.00
18. डेरी रसायन विज्ञान	36.00
19. पशु प्रजनन एवं प्रसूति विज्ञान	55.00
20. कुक्कुट पोषण	41.00
21. कुक्कुटों के रोग एवं उनकी रोक-थाम	48.00
22. पशु शरीरक्रिया विज्ञान	162.00
23. भ्रूण विज्ञान की प्रयोगशाला पुस्तिका	6.00
24. ऊतक विज्ञान की प्रयोगशाला पुस्तिका	7.00
25. हार्पर कृत शरीरक्रियात्मक रसायन की समीक्षा	276.00
26. प्रायोगिक जीव रसायन	19.00

कमीशन की दरें : 1. पुस्तक विक्रेताओं एवं शिक्षा संस्थाओं के पुस्तक भंडारों के लिए 40-50 प्रतिशत

2. संस्थाओं, सरकारी विभागों, पुस्तकालयों एवं सामान्य ग्राहकों के लिए 25-40 प्रतिशत

सम्पर्कसूत्र : निदेशक, प्रकाशन निदेशालय,
गो० ब० पंत कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय
पंतनगर—263 145 **(नैनीताल), उत्तर प्रदेश**